दरबारी संस्कृति

और

हिन्दी मुक्तक

त्रिभुवन सिंह

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
वाराणसी–१

समर्पण

श्रद्धेय गुरुवर,

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

के कर कमलों में

सादर समर्पित

—त्रिभुवन सिंह

प्रस्तुत समीक्षा ग्रंथ 'दरबारी संस्कृति और हिन्दी मुक्तक' प्रकाशित करते हुये आज हमें अत्यन्त प्रसन्नता और गौरव का अनुभव हो रहा है। हिन्दी साहित्य के लब्ध प्रतिष्ठ एवं प्रख्यात समालोचक श्री त्रिभुवन सिंह की यह कृति समालोचना का वह नवीन मार्ग इंगित करती है जो अब तक प्रायः हिन्दी के समालोचकों की दृष्टि में समुचित रूप से नहीं आ सका था। साहित्य के विकास में तत्कालीन सामाजिक और सांस्कृतिक अवस्था का योग और प्रभाव अवश्यंभावी है। समालोचना की सुचारु दृष्टि के लिये तात्कालिक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का समानान्तर अध्ययन अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। श्री त्रिभुवन सिंह जी की एतद्-विषयक दृष्टि उनकी वैज्ञानिक, गंभीर एवं विश्लेषणात्मक प्रतिभा की परिचायक है।

लेखक की कई अन्य कृतियों से पाठक परिचित ही होंगे। इनके कई समीक्षात्मक ग्रंथ राज्य सरकार द्वारा सम्मानित एवं पुरस्कृत किये जा चुके हैं। विभिन्न शिक्षा संस्थाओं एवं विश्वविद्यालयों ने इनके अन्य ग्रंथों को उच्चकक्षाओं में सहायक ग्रन्थ के रूप में स्वीकार करके इनकी नवीन समीक्षात्मक शैली के प्रति आदर प्रकट किया है। हमें आशा है कि प्रस्तुत ग्रन्थ का हमारे पाठक यथायोग्य स्वागत करेंगे और हमारे उत्साह की वृद्धि करेंगे। लेखक और अपनी ओर से हम सबके प्रति आभार प्रदर्शित करते हैं।

—प्रकाशक

लेखक की कृतियाँ

१. रोदन (काव्य)

२. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद (समीक्षा)

३. आधुनिक हिन्दी कविता की स्वच्छन्दधारा (समीक्षा)

४. दरबारी संस्कृति और हिन्दी मुक्तक (समीक्षा)

५. मध्यकालीन हिन्दी अलंकृत कविता और मतिराम (शोध ग्रंथ)

गिरितैं ऊँचे रसिक - मन बूड़े जहाँ हजारु,
वहै सदा पसु नरनु कौ प्रेम-पयोधि पगारु ॥
—बिहारी

जाथल कीन्हें विहार अनेकनि ता थल काँकरी बैठि चुन्यो करैं ।
जा रसना सों करी बहु बातन ता रसना सों चरित्र गुन्यो करैं ॥
'आलम' जौन से कुंजन में करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करैं ।
नैनन में जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करैं ॥
—आलम

नैननि को तरसैऐ कहाँ लौं कहाँ लौं हियौ बिरहाग में तैऐ ।
एक घरी न कहूँ कलपैये, कहाँ लगि प्रानन कों कलपैऐ ॥
आवै यहै अब 'दास' विचार, सखी चल सौतिउ के घर जैऐ ।
मान घटै ते कहा घटि है जु पै प्रान-पियारे को देखन पैऐ ॥
——

प्रस्तावना

हिन्दी का मध्यकालीन साहित्य अधिकाश दरबारी साहित्य था। हिन्दी के जन्म के बहुत पूर्व से ही संस्कृत ने राज-दरबारों मे प्रवेश प्राप्त कर लिया था और संस्कृत के कविगण राज-दरबारों में सम्मानित और पुरस्कृत होते रहते थे। परवर्ती काल में तो संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत और अपभ्रंश के कवियो को भी राजदरबारों मे सम्मानपूर्वक स्थान दिया जाता था। परन्तु हिन्दी का कुछ ऐसा दुर्भाग्य था कि उसके जन्म के साथ ही उत्तर-पश्चिम के आक्रमणकारियों ने समस्त हिन्दी प्रान्त को आक्रान्त कर दिया। उत्तर भारत में मुसलमानो के पैर जम जाने के पश्चात् राजस्थान के अतिरिक्त प्रायः समस्त हिन्दी प्रदेश मुसलमान शासकों के अधीन हो गये और उन राज-दरबारो से संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी के कवि प्राय बहिष्कृत ही हो गये। राजस्थान मे भी राजपूत राजा प्राय सर्वदा युद्ध में ही लगे रहते थे, मुसलमान शासक उन्हे चैन नही लेने देते थे और ऐसा जान पड़ता है कि वे स्वयं चैन लेनेवाले न थे। युद्ध करना उनका स्वभाव बन गया था। ऐसी स्थिति में राज-दरबारो मे जो कवि थे भी, उन्हे अपने कौशल-प्रदर्शन का पर्याप्त अवसर प्राप्त नही होता था। इस प्रकार १५वी शताब्दी तक हिन्दी की काव्यधारा अत्यन्त क्षीण और दुर्बल थी। १६वी शताब्दी मे एक परिवर्तन हुआ। हिन्दू जनता अभी तक यही सोचती थी कि मुसलमान शासक भारत मे स्थायी न रह सकेंगे, परन्तु सोलहवी शताब्दी मे उनकी यह धारणा बदलने लगी। विशेष रूप से मुगलो के भारत में सुदृढ हो जाने पर हिन्दू मात्र यह समझ गये कि मुसलमानों का राज्य जड़ जमा चुका है। दूसरी ओर मुसलमान भी भारत को अपना देश समझने लग गये। इस बदली हुई मनोवृत्ति में अकबर ने हिन्दू राजघरानो से वैवाहिक सम्बन्ध जोड कर हिन्दू-मुसलमानों को पास-पास लाने का प्रयत्न किया। इसका परिणाम यह हुआ कि मुसलमान क्रमशः देश भाषा हिन्दी की ओर झुके और हिन्दू कवि फारसी का ज्ञान प्राप्त कर मुसलमानी राजदरबारों में आने-जाने लगे। जिसके परिणाम-स्वरूप ईसा की १६वी शताब्दी मे नूतन दरबारी सस्कृति का उदय हुआ।

इस नूतन दरबारी संस्कृति के प्रचार और प्रसार मे एक बाधा भी थी और वह बहुत बड़ी बाधा थी। इस संस्कृति के उद्भव से एकाध शताब्दी पूर्व ही उत्तर भारत मे भक्ति-आन्दोलन चल निकला था जो क्रमशः गति और गुरुता प्राप्त कर रहा था। इस आन्दोलन ने हिन्दू कवियों की दृष्टि राम-राज्य और वृन्दावन की रास-क्रीड़ाओ की ओर आकृष्ट हुई और वे पागल हो कर उसी ओर झुक पड़े। हिन्दू ही नही कुछ मुसलमान भी 'लकुटी' और 'कामरिया' पर मुग्ध हो तीनों लोक का राज्य छोडने को प्रस्तुत हो गये। भक्ति-आन्दोलन की आधी ने इस नूतन दरबारी संस्कृति को झकझोर दिया; परन्तु वह उसे उखाड नही सकी। इस दरबारी संस्कृति के विरोध मे तुलसीदास ने अपने गंभीर स्वर में घोषणा की थी:

'कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना । सिर धुनि गिरा लागि पछताना ।।'

परन्तु अनगिनत स्वर्ण और रजत मुद्राओ की ठनठनाहट मे यह स्वर दब-सा गया ।

हाँ, भक्ति कवियों का विरोध दब गया और दबता भी क्यो नही ? इस युग के राजाओं के व्यक्ति में इतना अधिक प्रत्यक्ष ऐश्वर्य और वैभव सचित हो चुका था कि वह सहसा भगवान् के परोक्ष ऐश्वर्य और विभुता को विस्मरण करा देता था । केशवदास भक्त थे । परन्तु उन्हे भी राजा बीरबल की उदारता को देख कर चकित रह जाना पड़ा था । वे स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं ·

"केशवदास के भाल लिख्यो विधि रंक को अंक बनाय संवारयो ।"
धोये धुवै नहि छूटो छुटै, बहु तीरथ के जल जाय परवारयो।
ह्वै गयो रंक ते राज तही, जब बीर बली बरबीर निहारयो।
भूलि गयो जग की रचना, चतुरानन बाय रह्यो मुख चारयो।

राजाओं का ऐश्वर्य प्रत्यक्ष था और प्रत्यक्ष के लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती । भगवान् का ऐश्वर्य प्रत्यक्ष नही था (कम से कम साधारण व्यक्तियो को) और उसके लिए प्रमाण की आवश्यकता थी । इसलिए दरबारी संस्कृति के प्रचार और प्रसार में कोई भी बाधा ठहर न सकी ।

✓ इस नूतन दरबारी संस्कृति के प्रभाव से हिन्दी में जिस काव्यधारा का प्रवाह प्रवाहित हुआ उसकी अपनी कुछ विशेषताये है । विषय-वस्तु की दृष्टि से इस युग की रचनाओं में आश्रयदाता राजा-महाराजाओ की स्तुतिपरक कविताओं का विशेष स्थान है । कहा जाता है कि समय पड़ने पर सभी वाद्य-यत्र बेसुरे हो जाते है, सभी राग-रागिनियाँ नीरस हो जाती हैं; परन्तु अपना स्तव-गान न कभी बेसुरा होता है न कभी नीरस । फिर मध्यकाल के अधिकाश राजाओं में न तो इतना ऊंचा सस्कार था न इतना शील-सौजन्य कि वे अपनी प्रशंसा सुनने में संकोच का अनुभव करते । स्वयं छत्रपति महाराज शिवाजी जैसे शीलवान और उच्च संस्कार के महापुरुष भी अपनी प्रशंसा सुन कर प्रसन्न ही होते थे। कहा जाता है कि पहली बार जब महाकवि भूषण ने छत्रपति महाराज शिवाजी के दर्शन किए तो उनकी प्रशंसा में एक कवित्त पढ़ा ·

"इन्द्र जिमि जंभ पर बाड़व सुअंभ पर, रावन सदंभ पर रघुकुलराज हैं ।
पौन वारिवाह पर, सम्भु रतिनाह पर ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज हैं ।।
दावा द्रुमदंड पर, चीता मृगझुण्ड पर, भूषण वितुंड पर जैसे मृगराज हैं ।
तेज तम-अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर, त्यों मलेच्छ-बंस पर सेर सिवराज हैं ।।

महाराज ने प्रसन्न होकर कहा—फिर पढ़ो । भूषण ने फिर पढ़ा और आज्ञा हुई फिर पढ़ो । इस प्रकार भूषण एक ही कवित्त फिर-फिर पढ़ते रहे और फिर-फिर पढ़ने की महाराज की आज्ञा उसी प्रकार चलती रही । ५२ बार पढ़ लेने पर जब शिवाजी महाराज ने फिर पढ़ने की आज्ञा दी तो कवि ने खीझकर उत्तर दिया कि अब चाहे महाराज रुष्ट ही क्यों न हो जायँ मै फिर नही पढ़ूंगा । महाराज ने कहा—जो तुमने फिर न पढ़ने की बात कही उससे मैं रुष्ट तो नही हुआ, परन्तु तुम्हारी बहुत बड़ी

क्षति हो गयी; क्योंकि मैंने मन-ही-मन निश्चय कर लिया था कि तुम जितनी बार यह कवित्त पढोगे उतने ही हाथी तुम्हे पुरस्कार-स्वरूप मिलेंगे। कवि को केवल बावन हाथियो पर संतोष करना पडा। यह कथा कहाँ तक सत्य है, कहा नही जा सकता। पूरी सम्भावना इसके असत्य होने की ही है। परन्तु इस कथा से एक बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि उस युग के राजा अपनी प्रशंसा सुनते थकते नही थे।

जीवित अवस्था में उस युग के नरेश अपनी स्तुति सुनकर प्रसन्न तो होते ही थे, कहा जाता है कि कुछ राजा मरने के बाद भी अपनी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होते थे। जैसलमेर के एक राजा के सम्बन्ध में कहा जाता है कि एक युद्ध में उनकी मृत्यु हो जाने पर राजमहिषी ने सती होने के लिए राजासाहब का सिर लाने का आदेश दिया। परन्तु रुण्ड-मुण्डो की उस भीड में तलवार की चोट से विकृत रावसाहब का मुण्ड पहचानने मे कोई सफल नही हुआ। अन्त में बारहट की पुकार हुई और उन्हें आदेश हुआ कि आप रावसाहब का मुण्ड शीघ्र खोजकर लाइए, नही तो वर्षों आपने जो पुरस्कार पाये है वे सब छीन लिए जायेंगे। बारहट भी मुण्ड खोजने मे सफल न हो सका। विवश हो कर उस चतुर बारहट ने रुण्ड-मुण्ड से भरे उस युद्ध-भूमि के एक किनारे खडे हो अपने गंभीर कंठ से मृत राव की प्रशंसा मे छन्द सुनाने प्रारम्भ कर दिए। सभी सामन्त और दरबारी चकित थे कि बारहट को हो क्या गया है? परन्तु बारहट था कि धैर्यपूर्वक उस श्मशान तुल्य रणभूमि में एक के बाद एक कवित्त सुनाता ही जा रहा था। कई घंटे के इस स्तुति-पाठ से सहसा एक मुण्ड अट्टहास कर उठा और दौडकर बारहट ने वह मुण्ड उठा लिया। वह मुण्ड जैसलमेर के मृत राव का ही था, जो अपनी प्रशंसा सुन कर अट्टहास कर उठा था। राजमहिषी बारहट को यथेष्ट पुरस्कार दे कर सती हो गयी। यह कथा तो सत्य क्या होगी, परन्तु उस युग के राजाओं पर आत्मप्रशंसा का प्रभाव प्रकट करने मे पूर्ण समर्थ है।

आत्मप्रशंसा के अतिरिक्त राजा लोग राजनीति और धर्मनीति की बातें भी सुनना पसन्द करते थे, क्योंकि परम्परा से राजा लोग नीति की बात सुनते और रुचि लेते रहे है। धृतराष्ट्र के लिए विदुर-नीति कही गयी थी। चाणक्य ने भी चाणक्य-नीति कह कर अपने नरेश को नीति-शिक्षा दी थी। शुक्राचार्य की शुक्रनीति प्रसिद्ध ही है। महाभारत में कणिक की राजनीति का उल्लेख प्राप्त होता है। अस्तु, मध्यकाल के कवि भी कभी-कभी राजनीति और धर्मनीति की बात सुनते थे। नीति के अतिरिक्त ज्ञान, वैराग्य और भक्ति की भी चर्चा कवियों के लिए आवश्यक थी। क्योंकि बुद्ध और शंकर, रामानुज और रामानन्द, चैतन्य और निम्बार्क ने जिस भूमि को ज्ञानामृत और भावधारा से आप्लावित किया, उस भूमि में पैदा होनेवाले राजा और कवि भला इस चर्चा से दूर कैसे रह सकते थे?

परन्तु मध्यकालीन कवियों ने चाहे समय-समय पर ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, राजनीति और धर्मनीति के छन्द रचे हों परन्तु उनका प्रिय विषय शृंगार ही रहा है। नायक-नायिकाओं के मिलन और विरह, उनकी मान और अभिसार की चर्चा में कविगण

मुग्ध थ। आश्रयदाताओं की रुचि भी शृंगार की ओर विशेष जमती थी। इस का भी कारण था। विलासिता के इस युग मे राजा-नवावो का अन्त पुर भिन्न-भिन्न वय और रुचि की नायिकाओं से भरा-पुरा था। युद्ध और राजकार्य से अवकाश पाने पर उन राजाओ का मन उसी ओर दौडता था और कविगण इस मनोविनोद के सखा और सहायक थे। सौभाग्य से इन कवियो को राधा-कृष्ण का आलम्बन भी प्राप्त हो गया था और राधा-कृष्ण की ओट में वे युग की वासना का चित्रण कर रहे थे।

शृंगार भारतीय कवियों का सदा से ही प्रिय विषय रहा है। उसमें कामशास्त्र और अलंकारशास्त्र ने आहुति का काम किया। परिणाम यह हुआ कि मध्यकाल की काव्य-रचना में शृंगार की एक बाढ़-सी आ गयी। मध्यकालीन दरबारी कविता का विषय-वस्तु बस इतने ही तक सीमित था। सच तो यह है कि विषय का उस काव्य में सहारा मात्र ही लिया गया है। विषय का महत्त्व उस कविता में कभी नही रहा। राजाओं के उद्यानों और उपवनों में जो जलाशय या फुहारे बने होते है उनमे जल का महत्त्व नही होता। महत्त्व उस जलाशय या फुहारे मे खचित मीनाकारी, पच्चीकारी और मंडन-शिल्प का होता है। उसी प्रकार उस कविता में वास्तविक महत्त्व कविता के कहने की शैली, उसकी वक्रता, वाग्विदग्धता, शब्द-चयन और मण्डन-शिल्प का होता था। क्या कहा जाता है—इस का महत्त्व नही था, किस प्रकार कहा जाता है—इसी का सारा चमत्कार था। कारण सभी कवि प्राय: एक ही बात कहते थे। अपने आश्रयदाता की प्रशंसा में सभी कवि उनके दान, दया, वीरता और सौन्दर्य का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करते हुए एक ही प्रकार के उपमान प्रयुक्त करते थे। उदाहरण के लिए अपने आश्रयदाता की दान की प्रशंसा में सभी कवि उन्हे बलि और कर्ण से बढ़ कर दानी बताया करते थे। परन्तु हरिनाथ ने महाराज मानसिंह के दान की प्रशंसा में उन्ही बलि और कर्ण का उल्लेख करते हुए जब एक छोटा-सा दोहा पढ़ा :

बलि बोई कीरति लता, कर्ण कीन्ह द्वैपाति ।
सींची मान महीप ने जब देखी कुम्हिलात ।।

तब उनके कहने की शैली में कुछ ऐसी सरलता और विदग्धता थी कि राजा मान को भी अपनी कीर्तिलता सीचने के लिए मुक्त-हस्त से धन देना ही पड़ा। इस दोहे में विषय का नही और कहने की शैली का महत्त्व है और इस महत्त्व को स्वीकार करके ही राजा मान ने कवि को मालामाल कर दिया। परन्तु जब हरिनाथ सारी सम्पत्ति ले कर अपने घर की ओर जा रहे थे, तब एक कवि ने अपने काव्य-कौशल से उन्हें इतना मुग्ध कर दिया कि हरिनाथ दान में प्राप्त सारी सम्पत्ति उस कवि को दे कर खाली हाथ ही घर लौटे। उस कवि ने भी एक ही दोहा पढ़ा था :

दान लेन पर द्वै बढ़े की हरि की हरिनाथ ।
वे तो ऊँचे पग किए, ये किए ऊँचे हाथ ।।

परन्तु इस दोहे में कुछ ऐसी विदग्ध व्यंजना थी कि हरिनाथ को ऊँचा हाथ करना ही पड़ा; उस सहृदय व्यक्ति के लिए दूसरा कोई चारा ही नही रह गया था।

अस्तु, दरबारी संस्कृति की इन मुक्तक रचनाओं में कला का कौशल, बात की करामात, अथवा वाग्विदग्धता और मंडन-शिल्प ही सब कुछ था। वहाँ विषय का महत्त्व बहुत ही कम था। एक के बाद एक कवि ने अपनी कला का कौशल प्रदर्शित किया, अपने मंडन-शिल्प, अपनी वाक्चातुरी, अपनी लक्षणा और व्यंजना की शक्ति से श्रोताओं को चमत्कृत कर दिया। केशव, मतिराम, बिहारी, देव, घनानन्द, दास, ठाकुर, पद्माकर और बेनीप्रवीन की उक्तियाँ इसी प्रकार चमत्कृत कर देनेवाली हैं। ढाई-तीन सौ वर्षों की दरबारी सस्कृति ने हिन्दी-साहित्य में कला-कौशल के प्रदर्शन का अपूर्व अवसर प्रदान किया; परन्तु उस साहित्य को उच्च कोटि का काव्य कहना बहुत संगत प्रतीत नही होता। कारण यह है कि इस संस्कृति से प्रभावित कवि मूलतः शब्दों के व्यापारी थे, भावों का व्यापार नही करते थे। जयपुर के महाराज प्रतापसिंह की मृत्यु के बाद जब जगतसिह गद्दी पर बैठे तब राजकवि पद्माकर ने अपना परिचय देते हुए कहा था:

भट्ट तिलंगाने को बुन्देलखंड वासी कवि
सुजस प्रकासी, पद्माकर सुनामा हौं।
जोरत कवित्त छन्द, छप्पय अनेक भाँति,
संस्कृत प्राकृत पढ़े जू गुनग्रामा हौं।
हय रथ पालकी गयन्द गृह ग्राम चारु
आखर लगाइ लेत लाखन को सामाँ हौं।
मेरे जान मेरो तुम कान्ह हो जगतसिंह,
तेरो जान तेरो यह विप्र मैं सुदामा हौं॥

पद्माकरजी यद्यपि सस्कृत, प्राकृत और षट्भाषा के पंडित थे; परन्तु वे कवित्त, छन्द, छप्पय जोड़ने का काम करते थे। कारण यह था कि केवल अक्षर की पूँजी लगा कर ही वे लाखों का लाभ पा रहे थे, फिर भाव और रस का व्यापार करने की आवश्यकता ही क्या थी। पद्माकर तो सचमुच ही प्रतिभासम्पन्न कवि थे परन्तु उस युग के कितने ही कवि बिना किसी प्रतिभा के मीन, मृग, खंजन आदि उपमानो के नाम जोड-तोड़ कर कवित्त रचना कर दिया करते थे और पुरस्कार भी पर्याप्त प्राप्त कर लेते थे। ऐसे ही कवियो को सकेत करके ठाकुर कवि ने लिखा था:

सीखि लीन्हों मीन, मृग, खंजन, कमल, नैन
सीखि लीन्हों जस औ प्रताप को कहानो है।
सीखि लीन्हो कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिन्तामनि
सीखि लीन्हों मेरु औ कुबेरगिरि आनो है।
ठाकुर कहत याकी बड़ी है कठिन बात
याको नहि भूलि कभी बाँधियत बानो है।
ढेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच
लोगन कवित्त कीबो खेल करि जानो है।

सो इस युग मे कवित्त करना सचमुच खेल ही हो गया था। कारण कवि लोग भाव का अनुगमन नही, तुक का पीछा करने मे लगे रहते थे। रस का निष्पत्ति उनका लक्ष्य नही था, छन्द जोड़ना ही उनका एकमात्र उद्देश्य था। काव्य का आदर्श बिल्कुल बदल गया था। दरबारी सस्कृति में कवि वही था जिसे राजसभा मे बड़प्पन प्राप्त हो। ठाकुर कवि ी उक्ति है :

ठाकुर ो कवि भावत मोंहि जो राजसभा में बडप्पन पावै।
पंडित और प्रबीनन को जोइ चित हरै सो कवित्त कहावै।

कवीन्द्र रवीन्द्र की एक कहानी 'जयपराजय' मे भी दरबारी कविता की इसी प्रकार व्याख्या की गई है। महाराज उदितनारायण के राजकवि शेखर प्राकृत कवि थे और बडी ही सरस रचना करते थे। एक दिन दक्षिण से पुड ीक कवि ने आ कर 'युद्धम् देहि' की हाँक लगाई और महाराजा ने कवियो की प्रतियोगिता के लिए एक दिन नियत किया। नियत दिन राजकवि शेखर े राधा-कृष्ण-लीला से संबंधित एक भावपूर्ण सरस रचना सुनाई जिसे सुन कर सभी सहृदय मुग्ध हो गये। परन्तु पुंडरीक कवि ने शेखर के काव्य की हँसी उडाते हुए राधा-कृष्ण की ऐसी पाडित्यपूर्ण व्याख्या की और ऐसे-ऐसे सर्वतोभद्र और सिंहावलोकन की झड़ी लगा दी कि राजसभा चमत्कृत हो उठी और विजय का उपहार पुण्डरीक कवि को प्राप्त हुआ। उसी रात शेखर कवि ने आत्महत्या कर ली। दरबारी संस्कृति में सरस और भावपूर्ण कविता को आत्महत्या करनी ही पडती है। यह बात नही कि मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में सरस और भावपूर्ण रचना हुई ही नही। कुछ रचनायें अवश्य ही सरस है। उदाहरण के लिए मतिराम और देव की कवितायें उपस्थित की जा सकती हैं। परन्तु सम्भवत: इसी कारण उनको उपयुक्त आश्रयदाता नही मिल सके। सच तो यह है कि दरबारी संस्कृति और सरस भावपूर्ण रचना में छत्तीस का सम्बन्ध है।

फिर इस दरबारी संस्कृति में कवि की प्रतिष्ठा भी बहुत गिर गई। 'कविर्मनीषी परिभः स्वयंभू।' के गौरव से मंडित कवि इस राज-सभा के शृंगार मात्र बन कर रह गए। एक बार जब कुमायूँ नरेश उदोतचन्द ने सभी कवियों का दरबार में प्रवेश ोक दिया था, तब मतिराम ने निवेदन किया था :

'कवि मतिराम राजसभा के सिंगार हम'

और उन्नीसवी शताब्दी में जब दरबारी काव्य की धारा सूखती जा रही थी, तब डुमरॉव के ब्रजवल्लभ कवि ने गुहार लगाई थी :

"बल्लभ खान, गुमान जहान सबै मिलिकै विनती सुन लीजै।
कीरति के बिरवा, कवि हैं, इनको कबहूँ मुरझान न दीजै।

अर्थात् कवि गमले के सुकुमार बिरवा है जो एक दिन भी पानी न मिलने पर मुरझा जाते है। तमसा के तट पर प्रकृति के प्रांगण में स्वच्छन्द विचरण करनेवाले बाल्मीकि के उत्तराधिकारी कवि किस प्रकार गमले के फूल की भाँति सूखते जा रहे थे। कवि के दैन्य की यह सीमा थी। इसी दैन्य से प्रेरित हो कर तो पद्माकर ने कहा था :

'मेरे जान मेरे तुम कान्ह हो जगतसिंह, तेरे जान तेरो वह विप्र मैं सुदामा हौं।'

और कवि के इसी दैन्य के कारण तो भारतेन्दुजी की 'प्रेमयोगिनी', नाटिका में छक्कू जी कहते हैं : कबित्त बनावे से का होथै और कबित्त बनावना कुछ अपने लोगन का काम थोरै हय ई भाँटन का काम है। (भारतेन्दु ग्रंथावली, पहला खंड, प्रथम संस्करण स० २००७, ना० प्र० सभा, पृष्ठ ३२६)।

दरबारी संस्कृति में कवि के इसी दैन्य के कारण उनकी कविता उच्चकोटि की नहीं हो सकी। दरबार में कवियों की इसी हीनता को लक्ष्य करके सम्भवत. देव कवि ने कहा था ·

जाके न काम, न क्रोध, विरोध न लोभ छुवै नहिं छोभ को छाहौं।
मोह न जाहि रहै जग बाहिर मोल जवाहिर ता अति चाहौं॥
बानी पुनीत ज्यों देव-धुनी रस आरद सारद के गुन गाहौं।
सील ससी सबिता छबिता कविताहि रचै कवि ताहि सराहौं॥

आज से प्राय. तीस-चालीस वर्ष पूर्व हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ आलोचक रीतिकाल के मुक्तकों पर मुग्ध थे। वे एक-एक छन्द की वाग्विदग्धता, शब्दचयन, लक्षणा और व्यजना की शक्ति और शिल्प पर न्यौछावर हो जाते थे और इसी कारण मीराँ बाई, सूरदास जैसे कवियों की सरस भावपूर्ण रचनाएँ उन्हें मुग्ध न कर पाती थी। आज हिन्दी के पाठक शब्दों के इन व्यापारियों को बहुत ऊँची दृष्टि से नहीं देखते फिर भी ऐसे आलोचकों की कमी नहीं है जो मीराँ की सरस सहज अनुभूतियों की अभिव्यक्ति से प्रभावित नहीं होते, पर ठाकुर और घनानन्द की लाक्षणिक अभिव्यक्ति पर लोट-पोट हो जाते हैं।

श्री त्रिभुवन सिंह ने हिन्दी-साहित्य के अत्यन्त व्यापक क्षेत्र में अनुसन्धान कार्य किया है। उनकी पहली पुस्तक (हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद) उपन्यासों के अध्ययन से सम्बन्ध रखती है। दूसरी पुस्तक (आधुनिक हिन्दी कविता की स्वच्छन्द धारा) में आधुनिक स्वच्छन्द काव्यधारा का विशद विश्लेषण हुआ है और प्रस्तुत पुस्तक में दरबारी संस्कृति और उसके प्रभाव से विरचित मध्यकालीन मुक्तक काव्य का अध्ययन है। विभिन्न ललित कलाओं के समन्वित प्रभाव से उस काल की कविता ने जो रूप ग्रहण किया उसकी खोजपूर्ण विशद विवेचना इस ग्रन्थ में लेखक ने बड़ी योग्यता से की है। आशा है, पाठकों को यह कृति एक नवीन दिशा दिखाने में सफल होगी।

दुर्गाकुंड, वाराणसी
आश्विन शुक्ल द्वितिया,
सं० २०१५ वि०।

श्रीकृष्ण लाल

अपनी ओर से—

हिन्दी पूर्व मध्यकाल अथवा भक्तिकाल के बीच से प्रबन्ध काव्य अथवा महा काव्य की स्वस्थ परम्परा सहसा क्यों लुप्त हो गई तथा श्रृङ्गारिक मुक्तको की एक प्रकार से बाढ़ सी आ गयी, यह प्रश्न और भी हिन्दी-विद्वानो के चिंता का विषय बना होगा किन्तु एक हिन्दी का विद्यार्थी होने के नाते मुझे बराबर इसके कारण के प्रति जिज्ञासा बनी रही। अपने 'शोध प्रबन्ध' के सिलसिले मे जब मुझे संस्कृत साहित्य का भी आलोड़न करना पड़ा, तो हिन्दी मुक्तको के विकास का रहस्य मेरी समझ में पूर्णतः आया, जिसे प्रस्तुत पुस्तक में व्यक्त कर सका हूँ अथवा नहीं, सहृदय विद्वान पाठक ही बतला सकते हैं। हिन्दी मुक्तक रचना काल की सीमा की उपेक्षा करके जो मुझे तथ्य सामने लाने पड़े है उससे कहीं कही पुस्तक की विषय सम्बन्धी एकता छिन्न-भिन्न अवश्य हो गयी है, किन्तु यदि उदारता पूर्वक विचार किया जायगा तो उनका पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट दिखाई पड़ेगा। इतना अवश्य है, कि यदि पाठक चाहें तो प्रमुख प्रसगो से स्वतंत्र निबंधों का भी रस ले सकते हैं। अपनी ओर से विशेष न कह कर मैं, शेष पुस्तक की शक्ति पर ही छोड़ देना उचित समझता हूँ।

इतना अवश्य कह देना चाहता हूँ, कि प्रस्तुत पुस्तक कतिपय विद्वानों एवं मित्रो की प्रेरणा एवं सद्भावना का परिणाम है। गुरुवर डा० श्री कृष्ण लाल ने अपने अमूल्य सुझावो के साथ साथ बृहत भूमिका लिखकर पुस्तक को गौरवान्वित किया है, जिसकी तुलना में आभार प्रकट करना कोई मूल्य नहीं रखता। मेरे अभिन्न मित्र श्री गोवर्द्धनलाल उपाध्याय (सहायक मंत्री नागरी प्रचारिणी सभा काशी) ने समय-समय पर मेरी जो सहायता की है, उसके लिये मैं अत्यन्त आभारी हूं। प्रिय भाई सुदमंगल सिंह, मार्कण्डेय सिंह, श्रीधर सिंह और राजदेव सिंह ने रात-रात भर जग कर जो पुस्तक को निर्दोष बनाने में योग दिया है, उसके लिये वे सम्भवतः आभार भी स्वीकार नहीं करना चाहेंगे, किन्तु मुझे तो अपना कर्तव्य करना ही है। प्रिय दिनेशकुमारशर्मा को मेरी रचनाओं के साथ विशेष दिलचस्पी रहती है, जिसके लिये मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूं। सबसे बड़ी बात जो मेरे लिखने में सहायक है, वह भाई श्रीकृष्णचन्द्र जी बेरी का मधुर आग्रह ही हो सकता है, जिसके कारण लेखक की कठिनाइयो से मै आज तक भी अपरचित हूँ। भाई अमरनाथजी पाण्डेय ने मेरी ब्रह्म लिपि की टाइप कापी तैयार की और प्रिय इन्द्रेजसिंह ने उसे सुधारा है, जिसके लिये दोनो ही बधाई के पात्र हैं। इसके अतिरिक्त जिन विद्वानों, मित्रो, एवं ग्रन्थों से जाने, अनजाने मुझे सहायता मिली है, उनके प्रति मैं अत्यन्त कृतज्ञ हू।

खानजहाँपुर
(आजमगढ़)
आश्विन शुक्ल प्रतिपदा सं० २०१५

त्रिभुवन सिंह

विषय-सूची

दरबारी संस्कृति और हिन्दी मुक्तक

दरबारी संस्कृति और हिंदी मुक्तक

साहित्य ही, किसी भी देश के सामाजिक, राजनैतिक एवं सास्कृतिक गतिविधियों का सच्चा चित्र होता है और कवि ही वास्तविक प्रतिनिधि। किसी भी देश या जाति की मनोवृत्तियों में उलटफेर करना उस देश के कवियों का ही काम है। यदि कवि चाहें तो अपने भाषा-भाषियों का जीवन कविता-पीयूष द्वारा स्वर्गमय बना सकते हैं। पतित से पतित समाज का उत्थान करना कुशल कवियों के वायें हाथ का खेल है।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि कवियों ने ऐसे-ऐसे कार्यों को कर दिखाया है, जिन्हें पूर्ण करने में बड़ी-बड़ी सेनायें भी असमर्थ रहीं। अन्तिम हिन्दू सम्राट पृथ्वीराज के जीवन का अन्त जिस वीरता के साथ हुआ, यह इतिहास के किसी भी विद्यार्थी से छिपा नहीं है। पृथ्वीराज की निस्सहाय अवस्था और उसके वीरत्वपूर्ण कार्यों के पीछे महाकवि 'चन्दवरदायी' और उसकी समर्थ वाणी ही थी जिसने भारतीय हिन्दू साम्राज्य के अन्तिम आलोक का अवसान ऐसे गौरव-पूर्ण ढंग से होने दिया कि उससे भारतीय इतिहास आज भी आलोकित है। ऐसा समुज्ज्वल अन्त महाकवि चन्द की प्रतिभा का ही फल था। मुहम्मद गोरी पृथ्वीराज को छल से पराजित कर गजनी ले गया। जहाँ उसने उनके साथ पशुवत् व्यवहार किया और अन्त में उनकी दोनों आँखें भी निकलवा ली तथा उन्हें एक कोठरी में कैद कर दिया। पृथ्वीराज को ऐसे संकट से बचानेवाला कोई भारत माँ का लाल नहीं था क्योंकि सभी निस्सहाय थे। सबने अपनी शक्ति का विश्वास खो दिया था, केवल कविवर चन्द को अपनी प्रतिभा पर विश्वास रह गया था और वे अकेले 'गोरी' से बदला लेने के लिये गज़नी की ओर चल पड़े। गजनी पहुँच कर उन्होंने अपने गुणों से मुहम्मद गोरी को मुग्ध कर लिया और उससे पृथ्वीराज के वाण-विद्या की प्रशंसा करके मुहम्मदगोरी के मन में उसका तमाशा देखने की इच्छा उत्पन्न की। कवि चन्द की प्रेरणा से गजनी में शब्दवेधी वाण-विद्या के प्रदर्शन की सारी तैयारी पूरी हुई और उसका कौतुक देखने के लिये भरी सभा में पृथ्वीराज बुलाये गये। मुहम्मदगोरी स्वयं एक बड़े ऊँचे सिंहासन पर चक्षुहीन हिन्दू सम्राट पृथ्वीराज की वाण निपुणता देखने के लिये बैठा, जिसपर पृथ्वीराज को सम्बोधित करते हुए 'चन्द' ने अपनी इतिहास प्रसिद्ध उक्ति कहीः—

> तीन बाँस चौबीस गज
> अंगुल अष्ट प्रमान,
> एते पर सुलतान है
> अब न चूक चौहान॥

फिर क्या था, चक्षुहीन पृथ्वीराज सभी बातें समझ गये और उपरोक्त कथन के आधार पर ऐसा निशाना मारा कि उपस्थित लोगों ने बाणविद्या का कौतुक देखने के बदले मुहम्मद गोरी के जीवन कौतुक की इह लीला का अन्त होते देख लिया।

कविवर बिहारी की वाणी-निपुणता ने[1] श्रृंगाररस मे डूबे राजा मिर्जा जयसिंह को जो राज-काज से उदासीन हो अपने राज-कर्म से च्युत होते जा रहे थे, सत्पथ का मार्ग बतलाया और एक हिन्दू-राज्य को जिसपर कि मुगल सम्राट शाहजहाँ की कुटिल दृष्टि थी, पराधीन होने से बचा लिया। महाकवि भूषण की फड़कती हुई ओजपूर्ण उक्तियों के प्रभाव से कौन भारतीय ऐसा है, जो परिचित नही है। भूषण की ओजस्विनी सौंदर्यपूर्ण उक्तियों का ही परिणाम था कि हिन्दू जाति तथा हिन्दू राष्ट्र को 'शिवाजी' ऐसा कुशल राजनीतिज्ञ वीर नायक मिल गया। हिन्दू जनता को सुनति से बचाने तथा गो-ब्राह्मण की रक्षा करने के लिये 'शिवाजी' महाराज को दृढ़ प्रतिज्ञ करने का एकमात्र श्रेय 'भूषण' की कविताओं को है। इसी प्रकार अनेक ऐसे उदाहरण इतिहास के पन्नों पर बिखरे पड़े हैं जिनसे पता चलता है कि कवियों ने अनेक अवसरों पर ऐसे महान कार्य किये हैं जिनके लिये भारतीय समाज सदा ऋणी रहेगा। युग प्रवाह में इतनी अजेय शक्ति होती है कि उसके सामने सभी को नतमस्तक होना पड़ता है। इस प्रवाह को रोकने तथा उसके प्रतिकूल जाने का साहस केवल कवि एवं उसकी कविता में ही होता है। कवि के लिए कठिन से कठिन कार्य भी आसान होता है और वह केवल अपने युग का प्रतिनिधि ही नही होता बल्कि युगनिर्माता भी होता है। कुछ असहृदय व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो कविता को व्यर्थ बकवास और ख्याली पोलाव की संज्ञा देते हैं। ऐसे लोगों का विचार है कि कविता के नाम पर कुछ कविगण गन्दी-गन्दी बाते गढ़ डालते हैं और इससे समाज के उपकार के बदले अपकार होता है। ऐसा कहने से उनका तात्पर्य मुख्यतः श्रृंगार रस की कविताओं से है जिन्हें अश्लील की भी संज्ञा दी जा सकती है। वे शान्त रस के दो एक कवियों को छोड़कर और सबको तुक्कड़ तथा अपने मतलब का यार समझते हैं। पर वास्तविक स्थिति इससे कुछ भिन्न है। टूटे-फूटे शब्द बैठा लेने तथा तुक जोड़ लेने वाले व्यक्ति को ही कवि की संज्ञा नहीं दी जाती और न तो विकार-पूर्ण श्रृङ्गार की अश्लील उक्तियों को कविता ही कहा जा सकता है, बल्कि युग-सत्य को अपनी कलात्मक प्रतिभा के द्वारा सुन्दरतम ढंग से प्रस्तुत करनेवाले व्यक्ति को ही कवि के रूप में स्वीकार किया जा सकता है और उसकी उक्तियों को श्रेष्ठ कविता की संज्ञा दी जा सकती है।

वैसे तो कविता कवि के हृदय की तीव्रतम अनुभूति की अभिव्यक्ति है, किंतु जिस समाज में वह रहता है तथा जिस वातावरण में स्वाँस लेता है उसका बहुत बड़ा प्रभाव उसकी अनुभूतियों पर होता है। सच्चे कवि का हृदय ही कवितामय होता है जिसमें अनेक प्रकार की तरंगें उठती गिरती रहती हैं। उसकी तन्मयता 'मिर्जा गालिब' के आशिक से किसी प्रकार कम नहीं होती :—

"मुहब्बत में नहीं है फर्क, जीने और मरने का।
उसी को देख कर जीते हैं, जिस काफ़िर पै दम निकले ॥"

पर कवि का मरना और जीना सभी उसी समाज में होता है जिसमें वह रहता है अथवा जिससे वह चतुर्दिक घिरा हुआ होता है। विलास और सम्पत्ति, चिंतन और साधना

१—नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं बिकास यहिं काल।
अली कली से यों बिन्ध्यौ, आगे कौन हवाल ॥ —(बिहारी)

की सबसे बड़ी शत्रु हैं। इनके कारण कवि का युग-प्रवर्तक रूप सिमट कर कला प्रदर्शन तक ही सीमित रह जाता है क्योंकि वे अभाव से उद्भूत उद्गार जो युग-सन्देश के स्रष्टा कहे जा सकते हैं, कवि के मन में उत्पन्न ही नहीं हो पाते और वह अपनी प्रतिभा के साथ खिलवाड़ करने लग जाता है। यही कारण है कि जिन-जिन कवियों का सम्बन्ध राज-दरबारों से रहा है उनके द्वारा कलात्मकता एवं चमत्कार का वर्द्धन भले ही हुआ हो किन्तु वे राष्ट्रीय एवं सामाजिक आदर्शों की दिशा में अपनी कुछ भी देन नही दे सके हैं।

पराधीन भारत के दरबारों में जो काव्य-चर्चा होती रही उसका साहित्यिक से अधिक मूल्य कलात्मक था। किन्तु इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि मुगल बादशाहओं की कलाप्रियता ने हिन्दी कवियो को जो राजाश्रय प्रदान किया उससे हिन्दी कविता का अपार हित हुआ। हिन्दू राज्यों के पूर्णतः समाप्त हो जाने के कारण तथा मुसलमानों के पूर्ण शक्तिशाली राज्य स्थापित हो जाने के कारण हिन्दू और हिन्दी का कोई नामलेवा भी नहीं बच रहा। साधारण जनता बुद्धि, विद्या और धन से इतनी हीन हो चुकी थी कि उसे इसका अवकाश ही नहीं था कि वह अपने सांस्कृतिक मूल्यो को भी पहचाने। राज्य की ओर से किसी प्रकार का ऐसा प्रोत्साहन भी मिलना असम्भव था कि जिससे उसमें साहित्य एवं कला के प्रति रुचि उत्पन्न हो। कला एवं साहित्य की ओर जो कुछ कार्य सम्भव था वह दरबारों के माध्यम से ही। हिन्दी के कवि अधिकांश साधारण वर्ग के होते थे किंतु दरबारो में आश्रय पा जाने के उपरान्त उनका सम्बन्ध एक प्रकार से अपने परिवार से टूट ही जाता था और वे भी राजसी अदा और ठाट-बाठ से रहने लग जाते थे; जिससे उनकी रचनाओं में स्वस्थ लोक जीवन के अभाव का पाया जाना अनिवार्य है। इस काल में भी, जिसे हिन्दी का मध्यकाल कहा जा सकता है और जो एक प्रकार से दरबारो एवं सामंतों की अभिरुचियों का परिणाम है, कुछ ऐसे श्रेष्ठ कवि उत्पन्न हुए हैं जिनकी रचनायें उनकी अपूर्व साधना एवं चिंतन के परिणाम हैं। किन्तु ऐसे कवि या तो मूलतः सन्त थे अथवा उन्होने राजाश्रय ग्रहण नहीं किये थे। उदाहरण-स्वरूप 'तुलसी' और 'सूर' जैसे कवियों को लिया जा सकता है। इनकी रचनाओं पर दरबारी सभ्यता का प्रभाव तो नही रहा किन्तु इनका स्वर युगान्तकारी होने की अपेक्षा धार्मिक ही अधिक रहा। नहीं तो कोई कारण नहीं था कि इतनी समर्थ और प्रभावोत्पादक रचनायें समकालीन कवियों को प्रभावित नहीं कर पाई और वे कला के नाम पर श्रृंगार-सरिता में ही डूबते-उतराते रह गये।

दरबारी सस्कृति एवं सामंती सभ्यता से प्रभावित कवितायें अधिकांश मुक्तक काव्य के अन्तर्गत ही आती हैं जो मुख्यतः श्रृंगारिक हैं और उन पर कला का विशेष आग्रह दिखलाई पड़ता है। प्रस्तुत पुस्तक में यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि दरबारी संस्कृति ने हिन्दी मुक्तक काव्य की सृष्टि के लिये किस प्रकार से भूमि तैयार की और उसकी उर्वर शक्ति ने किस प्रकार हिन्दी मुक्तकों को विकसित कर उन्हें हिन्दी साहित्य में चमकाया। यह घटना हिन्दी साहित्य के लिये भारतीय भूमि पर कोई नयी बात नहीं थीं बल्कि इसका एक प्रवृत्ति के रूप में विकास होता रहा है जिसका मूल स्रोत संस्कृत साहित्य में वर्तमान है। सर्वप्रथम काव्य को जन्म देने वाले मुनिगण निवृत्तिमार्गी भावना पर बल देते थे किन्तु थोड़े ही समय पश्चात् शासक वर्ग प्रधान हो जाने के कारण प्रवृत्तिमार्गी भावना का

बोलबाला हो गया जिसका प्रभाव भारत की अन्य कलाओं पर भी पड़ा और उन कलाओं ने तत्कालीन भारतीय काव्य को भी प्रभावित किया। शासक वर्ग मुख्यतः क्षत्रिय के नाम से सम्बोधित हुआ जिससे उसके द्वारा प्रसारित एवं सम्मानित संस्कृति एवं सभ्यता को क्षत्रिय संस्कृति के नाम से इस ग्रंथ में प्रस्तुत किया गया है। अन्य ललित कलाओं का प्रभाव काव्यकला पर किस प्रकार पड़ता है इसका भी चित्रण पुस्तक के प्रारंभ में ही कर दिया गया है।

हिन्दी कवियों ने संस्कृत ग्रन्थों से अपने काव्य-विषय लिये हैं जिनको सोदाहरण स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। हिन्दी मुक्तकों के मूल स्रोतों को स्पष्ट करने का जितना प्रयत्न किया गया है उतना उनके ऐतिहासिक क्रम विकास को दिखलाने में नहीं। हिन्दी मुक्तक काव्यों को दरबारी सभ्यता ने किस सीमा तक प्रभावित किया है इसकी विस्तारपूर्वक चर्चा हुई है। हिन्दी सतसई के नाम से ग्रन्थ प्रस्तुत करने की जो एक परम्परा उस समय चल पड़ी थी उसके मूल-रहस्यो को उद्घाटित करना भी आवश्यक समझा गया जिसमें विषय, वस्तु एवं कला सभी दृष्टियों से हिंन्दी के इस मुक्तक रूप की विस्तृत व्याख्या की गयी है और अन्त में इस काल के मूल स्वर श्रृंगारी भावना के प्रत्येक पक्षो पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।

इस प्रकार साधारणतः देखने में पुस्तक के दो स्वतन्त्र भाग दिखलाई पड़ते हैं जिनमें एक का सम्बन्ध दरबारी एवं सामंती संस्कृति से है और दूसरे का हिन्दी मुक्तकों से। यह कहना कठिन है कि एक से दूसरे को अलग करके देखने में पूर्णतः न्याय हो पाता, जिससे विवश होकर ही ऐसा सयोग उपस्थित करना पड़ा है।

क्षत्रिय संस्कृति के विकास में कला की प्रवृत्ति

भारत के सामाजिक एवं सास्कृतिक विभाग को दृष्टि-पथ में रखते हुए उसके साहित्य के इतिहास का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि काव्य में कलात्मकता की प्रवृत्ति एक आकस्मिक घटना नहीं है बल्कि उसका सामाजिक प्रवृत्तियों के अनुसार स्वाभाविक विकास हुआ है। भारतवर्ष के साहित्य का इतिहास जिस समय से आरम्भ होता है, उस समय भारतीय राजनीति तथा सामाजिक आचार-विचार पर ब्राह्मणो का एक-छत्र राज्य था, जिससे उस समय मानव के प्राकृतिक भावो को स्वतन्त्र रूप से विकसित होने का उपयुक्त अवसर नहीं था, बल्कि आध्यात्मिक पक्ष पर ही अधिक बल दिया जा रहा था। मानवीय भावों को भी आध्यात्मिकता का ऐसा चोंगा पहना दिया गया था कि वे भी पूर्णतः पारलौकिक चिन्तन के विषय बन गये थे। आज उन संस्कारो के समाप्त प्राय हो जाने के कारण ही कतिपय सज्जन कह बैठते हैं कि भारतीय साहित्य में शृंगार सम्बन्धी अश्लील स्थल इतने भरे पड़े हैं कि उनसे जी ऊब जाता है और उन्हे इस प्रकार उसमें विषय-वैचित्र्य का शोचनीय अभाव भी दिखलाई पड़ता है। ऐसे लोगों की यह धारणा भारतीय साहित्य की आत्मा का समुचित प्रकाश न होने के कारण ही है। योरोपियन साहित्य के पढ़ने वालों को यह शङ्का विशेषतः इस कारण होती है कि उसमें मनुष्य और प्रकृति को एक दूसरे से भिन्न माना गया है। अतः दोनो एक दूसरे से बिल्कुल पृथक प्रतीत होते हैं। परन्तु भारतवर्ष में मनुष्य और प्रकृत्ति बिल्कुल पृथक नहीं बल्कि दोनों का पारस्परिक योग ही ठीक माना गया है।

मनुष्य की श्रेष्ठता और आदर्शों पर हिन्दू धर्म-शास्त्रों ने इतना बल दिया है कि उसके सामने प्रकृति दब सी गई है। अतः हमारे कवि-गण जब कभी नैसर्गिक और प्राकृतिक विषयों का वर्णन करते हैं तो उनका तात्पर्य नायक अथवा नायिकाओं या यों कहिये कि पुरुष और स्त्री के गुणों को और भी उत्कर्षित करना, प्रकृतिवत् मानसिक भावों का तारतम्य दिखाना तथा उसे मनुष्य की प्रेयसी अथवा नायिकाओ की सौत बनाना ही होता है। ऐसे प्रसंगों के माध्यम से जब कभी वे मानवीय दुर्बलताओं का भी चित्रण कर जाते हैं तो उसके मूल में उनकी निस्सारता प्रकट करना ही रहता है न कि उसकी सहज स्वाभाविक अभिव्यक्ति। ऐसी प्रवृत्ति सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के आरम्भ में दिखलाई पड़ती है। सामाजिक रुचियो एवं प्रवृत्तियो का प्रभाव निरन्तर काव्य अथवा साहित्य पर पड़ता रहता है।' समाज जिस प्रकार का होगा वह उसी भाँति साहित्य में प्रतिबिम्बित रहता है। समाज के रूप-रङ्ग, ह्रास-वृद्धि, उत्थान-पतन, समृद्धि, दुरव्यवस्था के निश्चित ज्ञान का प्रधान साधन तत्कालीन साहित्य होता है। इसी प्रकार साहित्य संस्कृति का प्रधान वाहन होता है। संस्कृति की आत्मा साहित्य के भीतर से अपनी मधुर झाँकी सदा दिखलाया करती है। संस्कृति के बहुल प्रसार तथा प्रचार का सर्वश्रेष्ट साधन साहित्य ही हैं। जहाँ की संस्कृति का

मूल स्तर भौतिकवाद के ऊपर आश्रित रहता है वहाँ का साहित्य कदापि आध्यात्मिक नहीं हो सकता और यदि संस्कृति के भीतर आध्यात्मिकता की भव्य भावनायें हिलोरें मारती रहती हैं तो उस देश तथा उस जाति का सहित्य भी आध्यात्मिकता से अनुप्राणित हुए बिना नहीं रह सकता।[1]''

भारतीय काव्य-साहित्य का आरम्भ उस युग में हुआ जिस समय मानव के आध्यात्मिक मूल्यो पर अधिक जोर दिया जा रहा था जिससे लौकिक जीवन के आकर्षक तत्वों की अभिव्यक्ति तत्कालीन साहित्य के माध्यम से असम्भव थी। हम देखते हैं कि जहाँ तक उपरोक्त प्रवृत्ति का समाज में समादर था वहाँ तक हमारा काव्य-साहित्य भी तदनुरूप भावो से अनुप्राणित है। आध्यात्मिक भावो के एकमात्र समर्थक एवं प्रचारक भारतवर्ष के सिद्ध ब्राह्मण ही थे जिनका भारतीय समाज पर धार्मिक, सांस्कृतिक तथा राजनैतिक सभी दृष्टियों से एकछत्र राज्य था, वे अपनी सुविधा एवं इच्छानुसार जिस प्रकार चाहते थे उसका संचालन करते थे और उस ब्राह्मण संस्कृति के अनन्य भक्त क्षत्रिय जिन्हें देश के शासक होने का सौभाग्य प्राप्त था, अपनी सम्पूर्ण श्रद्धा एवं भक्ति के साथ ब्राह्मण संस्कृति द्वारा प्रतिपादित नियमों का स्वयं पालन करते हुए राज्य की समस्त प्रजा को पालन करने के कारण बनते थे। इस प्रकार वास्तविक शासन राजा का नहीं बल्कि तत्कालीन संस्कृति के कर्णधारों का था।

'भारतवर्ष में जब ब्राह्मणों की प्रभुता थी, हमारे काव्यकार बाल्मीकि और व्यास, हमारे शास्त्रकार और दार्शनिक, गौतम, कपिल, कणादि, वैयाकरण पाणिनि और अलंकार शास्त्र के रचयिता 'भरत' सभी ऋषि थे। स्वयं राजा जनक भी एक ऋषि थे।[2]' कोई भी व्यक्ति जाति से ब्राह्मण न होकर भी कर्म अथवा स्वभाव से ब्राह्मण हो सकता है। विश्वामित्र ऐसे ही ब्राह्मण थे। त्याग-तपस्या के सम्मुख इस ब्राह्मण संस्कृति में लौकिक तत्वों को अत्यन्त तुच्छ माना जाता था और लोगो को सत्काव्य अथवा साहित्य के माध्यम से उनसे छुटकारा पाने का उपदेश दिया जाता था। उस समय का समाज धरती की अपेक्षा आकाश, असत् की अपेक्षा सत्, लोक की अपेक्षा परलोक तथा आसक्ति की अपेक्षा विरक्ति की ओर अधिक देखता था। इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि मानव के प्राकृतिक गुणों का अस्तित्व ही मिट गया था अथवा उसके गुण-धर्म-के विकास को किसी प्रकार का अवसर नहीं मिलता था। जीवन में उस समय की अच्छी-बुरी सभी वस्तुओं को स्थान मिलता था किन्तु काव्यों अथवा पुराणों तथा धर्म-ग्रन्थों के माध्यम से आदर्शों की ही चर्चा होती थी, उनमें लौकिक तथा सांसारिक कही जाने वाली वस्तुओं को किसी प्रकार का स्थान नहीं मिलता था।

ब्राह्मण संस्कृति निवृत्ति मार्गी थी, जिसमें मानवीय तथा लौकिक आकर्षणों का कोई मूल्य नही था और उसके कर्णधार तपस्वी ब्राह्मण जंगल तथा कुटियों में रहकर भी राज-प्रासादों तथा नगरों पर शासन करते थे। लौकिक सुखों तथा वैभवों को जो जितना ही

१—संस्कृत साहित्य का इतिहास—बलदेव उपाध्याय—च० सं० पृ० १

२—आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास- डा० श्रीकृष्णलाल पृ० ७

तुच्छ समझता वह उतना ही समाज में महान् और श्रद्धा का पात्र था। समस्त शक्ति और वैभव तथा धन-सम्पदा और राजमुकुट से युक्त राजे-महाराजे सेवकों की भाँति विनम्र भाव से आश्रमों एवं ऋषि-कुटियों की खाक छानते फिरते थे। ऐसी स्थिति में अत्यन्त स्वाभाविक था कि समाज की दृष्टि राजमहलो तथा वैभवों को छोड़कर आश्रमों तथा जंगलों की ओर जाती जहाँ आकर्षण का अस्तित्व भी मिट चुका था, जहाँ प्रवृत्ति के स्थान पर निवृत्ति को ही प्रतिष्ठित किया जाता था। इस निवृत्ति-मूलक सस्कृति में पले समाज की अभिव्यक्ति जिन काव्यों में हुई है स्पष्टतः उनमें सबके बाह्य तत्वों की अपेक्षा आन्तरिक तत्वों पर विशेष बल दिया गया है और कवियों की दृष्टि काव्य रूपों पर नहीं बल्कि वर्णित भावों पर ही रही।

इस युग में रामायण-महाभारत ऐसे श्रेष्ठ ग्रन्थों की रचना हुई जो आज तक भी हमारे काव्य के प्रेरक तत्त्व बने हुये हैं तथा जिनकी कला आज भी उतनी ही ताजगी लिये हुए है जितनी कि कवि के जीवनकाल में थी, किन्तु उनमें एक भी प्रसग ऐसे नहीं मिल सकते जिनमें कि कवि ने स्वाभाविकता को छोड़कर चमत्कार लाने का बलात् प्रयत्न किया हो। कहीं भी चमत्कार एवं अलंकारों की ठूँस-ठाँस नही है जो बाद के काव्यकारों में दिखलाई पड़ती है। काव्य की इस स्वाभाविक प्रवृत्ति के मूल में तत्कालीन निवृत्ति-मूलक समाज ही है जिससे प्रेरणा प्राप्त कर काव्यों की सृष्टि हो रही थी। ब्राह्मण संस्कृति-काल में काव्य की भाषा संस्कृत रही है जिसमें लिखा आरम्भिक साहित्य तपस्-कला प्रधान निवृत्ति मूलक भावों का ही एक मात्र प्रचारक है। भारतवर्ष की प्रमुख विशेषता रही है कि मानव की दैनिक आवश्यकताओं से सम्बन्धित वस्तुओं के लिये उसे दूसरे देशों पर आश्रित नही होना पड़ता था, जिससे सांसारिक जीवन के सुख के सभी उपकरण यहाँ सर्वसुलभ थे। उपकरणों के सर्वसुलभ होने के कारण भारतीय समाज जीवन-संग्राम के विकट संघर्ष से अपने को पृथक रखकर आनन्द की अनुभूति को, वास्तविक शाश्वत आनन्द की उपलब्धि को अपना लक्ष्य मानता है। इसीलिये संस्कृत काव्य जीवन की विषम परिस्थितियों के भीतर से आनन्द की खोज में सदा संलग्न रहा है[1]।' भारतीय दार्शनिकों ने आनन्द का आधार लौकिक तत्त्वों को न मानकर सदा पारलौकिक तत्त्वों को ही स्वीकार किया है। ईश्वर ही आनन्द का अन्तिम स्वरूप है, जिसकी प्राप्ति ही मानव जीवन में सबसे बड़ा आनन्द है। यही कारण है कि संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत 'रस' को ही काव्य की आत्मा माना गया है। संस्कृत आलोचना शास्त्र में औचित्य, रीति, गुण तथा अलंकार आदि काव्यागो का विवेचन होने पर भी रस-विवेचन ही मुख्यतया प्रतिपाद्य विषय है।

आदि कवि वाल्मीकि कृत महाकाव्य रामायण भारतीय समाज के आदर्शों तथा आचारों-विचारों को ही भव्य भावों में सजाकर प्रस्तुत करता है न कि उसकी रचना कला-प्रदर्शन के लिये हुई है। गृहस्थाश्रम भारतीय समाज का मेरुदंड रहा है जिसके ऊपर ही अन्य आश्रमो की स्थिति निर्भर मानी गई है। वाल्मीकीय रामायण में भारतीय गार्हस्थ्य धर्म की समुचित व्याख्या की गई है। यह महाकाव्य भारतीय समाज के आदर्शों की धुरी है जिसका प्रतिपादन ब्राह्मण संस्कृति ने किया था, जिसमें राजा दशरथ, कौशल्या, सीता, भरत, राम, सुग्रीव और हनुमान

१—संस्कृत साहित्य का इतिहास—बलदेव उपाध्याय—च० सं० पृ० ४

के रूप में, पिता, माता, पत्नी, भाई, पुत्र, मित्र तथा सेवक अथवा भक्त के आदर्शों को ही उपस्थित किया गया है।

'भगवान् व्यास' कृत 'महाभारत' तो चरित्रों का जङ्गल ही है। यह 'सचमुच विचार-रत्नों का एक अगाध महार्णव है जिसमें गोते लगाने वाला कवि आज भी अपने काव्य को चमत्कृत अथवा अलंकृत बनाने के लिये नवीन जगमगाते हीरों को खोज निकालता है। व्यास की वह उक्ति अतिशयोक्ति नहीं है जिसमें उन्होंने डंके की चोटपर इस ग्रन्थ रत्न की भव्यता का निर्देश करते हुए कहा है कि जो कुछ इस महाभारत में है वह दूसरे स्थलो पर है, परन्तु जो इसके भीतर नहीं है वह अन्यत्र कहीं भी नही।[1]

'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।'

'भागवत' में वर्णित सरस प्रसङ्ग निश्चित ही मानवीय भावों के अधिक निकट हैं। किन्तु राधा-कृष्ण में देवी भावों के आरोपित हो जाने के कारण उन्हें अलौकिक तत्त्व के रूप में ही स्वीकार किया गया है। यद्यपि अपनी मोहक, मधुरिमा तथा स्वाभाविकता के कारण सबसे अधिक भारतीय साहित्य को प्रभावित करने में समर्थ हुआ है और बाद में जैसे-जैसे समय बीतता गया उस पर से अलौकिकता का बोझ हलका भी होता गया है। एक समय ऐसा भी आया जिसमें ब्राह्मण संस्कृति की सबलतायें ही दुर्बलताओं के रूप में दिखलाई पड़ने लग गईं और अपनी कमजोरियों के कारण ही उसका प्रभाव भारतीय समाज पर से कम होने लगा।

ब्राह्मणों के बाद सबसे अधिक शक्तिशाली कौम क्षत्रियों की रही जिन दोनों में निरन्तर प्रभुता के लिये खींच-तान होती रही और महात्मा बुद्ध का अभ्युदय एक प्रकार से क्षत्रिय संस्कृति की महान् विजय थी यद्यपि उसका देखने में स्वरूप पूर्णतः धार्मिक ही था। भारतीय इतिहास में महात्मा बुद्ध का उदय ऐसी परिस्थिति में हुआ जब ब्राह्मण धर्म अपनी ही दुर्बलता के कारण समाज में बाधक सिद्ध हो रहा था। इसके द्वारा लगाये गये प्रतिबन्ध अब मानवीय प्राकृत भावों को रोकने में असमर्थ दिखाई पड़ने लगे क्योंकि वे अपनी प्राकाष्ठा को पहुँच चुके थे जिससे धीरे-धीरे सर्वप्रथम राजे-महाराजे मुक्त होने की इच्छा करने लगे और इस प्रकार ब्राह्मण संस्कृति के ऊपर क्षत्रिय सस्कृति अथवा शासक प्रवृत्ति प्रधान होने लग गई किन्तु आरम्भ में संस्कारों के प्रबल होने के कारण प्रत्यक्ष रूप में प्रतिकूल दिशा की ओर उन्मुख होना अत्यन्त कठिन था। इस आन्तरिक एवं मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का परिणाम अच्छा नहीं हुआ जिससे समाज में अनेक भ्रष्टाचारों अथवा कुरीतियों को प्रश्रय मिला और सम्पूर्ण भारतीय सामाजिक जीवन अस्त-व्यस्त सा दिखलाई पड़ने लगा। इसे हम भारतीय समाज का संक्रान्तिकाल कह सकते है जिसमें एक ओर तो ब्राह्मणों द्वारा नियमों को लादे जाने का आग्रह प्रधान हो रहा था और दूसरी ओर शासक वर्ग विलासी जीवन की ओर आकृष्ट हो रहा था। ऊपर से तो लोग सामाजिक सम्मान की दृष्टि से अचार-विचार को नहीं छोड़ना चाहते थे। किन्तु, आँख बचाकर उनकी उपेक्षा करने में भी संकोच नहीं करते थे। इसमें सन्देह नहीं कि इस समय तक ब्राह्मण संस्कृति का प्रभाव भारतीय समाज

१—संस्कृत साहित्य का इतिहास—बलदेव उपाध्याय—च० सं० पृ० ६४

पर से घटने लग गया था और लोगों में प्राचीन विचारों के प्रति एक भयंकर प्रतिक्रिया होने लग गई थी जिसका प्रभाव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पड़ा। भारत की निवृत्तिमार्गी जनता जो दीर्घकाल तक अपने मन में लौकिक आकर्षणों को दबाये बैठी थी, बड़े जोर से भौतिक सुखों की ओर दौड़ पड़ी जिससे प्रवृत्तिमार्गी भावना का उदय हुआ। चिन्तन के क्षेत्र में स्थिति पूर्ववत् ही रही केवल अन्तर इतना हुआ कि उसकी दिशा परलोक से हटकर लोकोन्मुख हो उठी।

मानव समाज जब भौतिक सुखों की ओर बढ़ता है तो सबसे पहले नारी उसका शिकार बनती है। स्त्री का रूप और यौवन पुरुष के लिये अद्भुत साबित हो जाता है और उसका सारा संयम उसकी एक तिरछी अदा पर लुट जाता है। अन्य देशों की अपेक्षा नारी का महत्त्व भारत में अधिक रहा है। नैतिक एवं बौद्धिक क्षेत्र में नारी का जो स्थान भारत में रहा है वैसा अन्यत्र स्वप्नवत् है। पश्चिमी देशों में नारी की वैयक्तिक स्थिति कुछ भी नहीं है, उसे पुरुषों की वासना-वृत्ति के सम्मुख पूर्णतः समर्पण कर देना होता है, जिससे उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। भारतीयों की भाँति नारी सौन्दर्य को निरपेक्ष भाव से देखने की दृष्टि पश्चिमियों की कभी भी नही रही है। इतना होने पर भी इस देश का प्राकृतिक योनि जीवन कभी भी असन्तुष्ट नहीं रहा है, उसकी उपेक्षा नहीं की गयी है। ब्राह्मण संस्कृति ने प्राकृतिक योनि जीवन पर एक सीमा तक प्रतिबन्ध अवश्य लगा रखा था किन्तु कभी-कभी उसके कर्णधार तक भी अपने को नारी आकर्षण से मुक्त नही रख पाते थे। विश्वामित्र आदि की कथायें इसके प्रमाण हैं और हिन्दू भारत के पिछले युग में तो आकर हम देखते हैं कि प्राकृतिक योनि जीवन को ब्राह्मण संस्कृति के नियमों से बहुत कुछ मुक्ति मिल चुकी थी अथवा उसने मुक्ति ले ली थी। इसी समय में कामसूत्रकार 'वात्स्यायन' ने योनि-जीवन सम्बन्धी प्राचीन भारतीय सिद्धान्त, कौशल तथा उसके मानवीय प्रयोग आदि की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है। उसने 'कामसूत्र' में मुख्यतः वेश्या-वर्ग की ही चर्चा की है जिनका उस समय तक समाज में अपना एक अलग वर्ग ही स्थापित हो गया था। बौद्धयुगीन राजाओं के समय में वेश्याओं का प्रवेश सभ्य एवं सम्मानित समाज में हो गया था और उन्हें विवाह आदि तक कर लेने के अधिकार प्राप्त हो गये थे जो बौद्धकालीन भारत से दूर नहीं था। क्योंकि देवदासियों आदि का विस्तृत वर्णन उसने नहीं किया है जो आरम्भिक हिन्दू भारत में पाई जाती थीं।

हिन्दू भारत के उत्तरार्द्ध में ऐसी नायिकाओं का बाहुल्य था जो क्वाँरी रहकर कलाओं पर ही अपना जीवन व्यतीत करती थीं। जिन्हें सभा-सुन्दरियाँ (**court mistress**) कहा जा सकता है। उन्हें सम्पूर्ण कलाओं का ज्ञान कराया जाता था और उन कलाओं में पारंगत होना उनके लिये आवश्यक था। ये नायिकायें सर्वसाधारण के लिये सुलभ नहीं थी बल्कि राजाओं एवं सामन्तो के ही विलास की वस्तुयें थीं किन्तु अन्य लोगों को नयन लाभ तो होता ही था! इन कलाविद् नायिकाओं अथवा वेश्याओं (**public women**) का आकर्षण-जाल किशोरावस्था को प्राप्त पुरुषों के लिये कभी कभी अद्भुत साबित हो जाता था। धनी लोग महलों में अनेक पत्नियों तथा रखेलियाँ रखते थे जिसका परिणाम यह होता था कि पति का प्यार प्राप्त करने की होड़-सी लगी रहती थी जिससे

गार्हस्थ्य जीवन में कलह तथा पति से उपेक्षित असन्तुष्ट स्त्री द्वारा व्यभिचार की सृष्टि होती थी। एक प्रसन्न पत्नी की गृहस्थी में अत्यन्त आवश्यकता रहती थी कि वह अपने को इतना सजाकर रखे कि पति उसके आकर्षण से बाहर अन्य किसी नायिका के आकर्षण में न पड़ सके जिससे उसे भी चौसठों कलाओं में पारंगत होना पड़ता था क्योंकि ऐसी सभा-सुन्दरियाँ धनिकों को उपलब्ध थी जो समाज में एक वर्ग के रूप में वर्तमान थीं जिनके आधार पर वात्स्यायन ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कामसूत्र' की रचना की है।[1]

इस बनाव शृंगार का परिणाम भारतीय समाज के लिए बहुत अच्छा सिद्ध नहीं हुआ। स्त्री-पुरुष के बीच जो स्वच्छन्द मिलन के कारण देश का नैतिक स्तर उठा हुआ था, उसमें भी बाधा उपस्थित करने का श्रेय इसी नारी-बाह्य शृंगार को है। समाज में स्त्रियों का जो स्वाभाविक प्रवेश था उसपर बन्धन कुछ कड़े कर दिये गये और इस समय से सुन्दरियाँ महलों में ही रखी जाने लगी क्योंकि पुरुषों को भय था कि उनके आकर्षक स्वरूप कहीं उन्हें व्यभिचारिणी बना देने के कारण न बन जाँय। सब की आँखों से बचाने के लिये ही उन्हें सर्वसाधारण से मिलने से रोका जाता था। भारतीय इतिहास का यही वह बिन्दु हैजहाँ से स्त्री-पुरुष के बीच की प्रथक्ता आरम्भ हुई। लोगों का यह अनुमान था कि साधारणतः मनुष्यों की प्रवृत्ति होती है कि वे वासना के फाँस में आसानी से फँस जाते हैं और स्त्री-पुरुष का एकान्त में स्वच्छन्द मिलन का अन्त व्यभिचार में होता है। सर्वप्रथम यह प्रवृत्ति राजाओं और सामन्तों में उत्पन्न हुई तदुपरान्त सम्पूर्ण समाज में फैल गई। लगभग छः सौ ई० पू० नगरों अथवा शहरों में रहने वाले भारतीयों की नैतिकता वासना की शिकार हो चुकी थी तथा योनि-जीवन के क्षणिक भौतिक सुखों में भारतीय आदर्श लगभग डूब सा चुका था जिसको रोकने के लिये जिन साधनों को प्रथमिकता दी गई उनसे समाज का और भी अकल्याण हुआ। यहीं से बाल विवाह की प्रथा चली और स्त्रियों को घूँघट के भीतर रहने के लिये बाध्य किया गया था उन्हें सतीत्व रक्षा की शिक्षा दी गई और पति के शव के साथ सती होने की परम्परा चल पड़ी। पुरुषों को भी एक पत्नी भक्त बनने की कड़ाई की गई जिसका पूर्णतः पालन तो वे नहीं कर सके किन्तु स्त्रियों की सारी स्वन्त्रता छिन गई और वे एकमात्र पुरुषों की आश्रिता तथा वासना को तृप्त करने की वस्तु बनकर रह गईं। ब्राह्मण संस्कृति द्वारा की गई यह दूसरी महान् भूल थी। सर्वप्रथम उसने मानव के प्रकृति भावों पर प्रतिबन्ध लगा कर उसे मानसिक विद्रोह के लिये बाध्य करके बिलासी होने के लिये निवश किया और दूसरी बार बाल-विवाह, पर्दा व्यवस्था तथा सती प्रथा का प्रचलन करके मानवीय अधिकारों का अपहरण किया जिसका कुपरिणाम देश को बहुत बाद तक भोगना पड़ा। धर्म-

---

1—Wealthy people often kept herems of several wives and concubines. So in a wealthy house domestic intrigues prevailed among the wives for gaining favour of the master and acts of adultery were committed by the dissatisfied woman. A happy wife required to be in dispensable to the household, she had to be as atractive to her husband as any mistress wonld be, yet her faithfulness to the lord should never be questioned. She had to be proficient in all the sixty four erotic arts. (Lures of India. S K. Banergee Page. 5)

भीरु भारत की साधारण जनता पर तो ब्राह्मण संस्कृति का पूर्णतः प्रभाव रहा किन्तु राजाओं और सामंतों का विलासी जीवन मानसिक विद्रोह के कारण इतना आगे बढ़ आया था कि उस पर इन प्रतिबन्धों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा।

प्रवृत्तिमार्गी भावना का उदय—

ब्राह्मण संस्कृति में जिस निवृत्ति मार्गी भावना पर बल दिया गया था उसकी उपेक्षा सर्वप्रथम दरबारो के विलासी जीवन मे दिखलाई पड़ने लग गई। इस दरबारी अथवा सामंती सभ्यता के माध्यम से जिस क्षत्रिय संस्कृति का विकास हुआ उसमें पारलौकिक वृत्तियों का स्थान लौकिक प्रवृत्तियों ने लिया। क्षत्रिय संस्कृति के इस उदय से मानव के दैनिक जीवन मे भौतिक सुखों को महत्त्वपूर्ण स्थान मिलना आरम्भ हुआ। भोग विलास तथा आनन्द के बढ़ते हुये महत्त्व ने स्वभावतः राजाओं और सामन्तों के सुखमय जीवन को साधारण समाज के लिये ईर्ष्या की वस्तु बना दिया। ये राजे और सामंत जो मुख्यतः क्षत्रिय होते थे अब आश्रमो में रहने वाले ऋषियों के शासन से बहुत कुछ स्वतन्त्र हो चुके थे और अपने वैभवपूर्ण जीवन का प्रकाश कुटिओं पर डालकर आध्यात्मिक तत्त्वों की खोज में लीन निवृत्ति मार्गी साधु-सतों को भी आकर्षित करने लग गये थे। इस समय का नागरिक इतना बढ़ गया था कि उसका सारा जीवन भोग-विलास की वस्तुओं को जुटाने में तथा उसके उपभोग में ही बीतने लगा। भोजन करने के पूर्व से लेकर सोने के बाद तक राजाओं तथा सामंतों के सभी कार्यक्रम निश्चित रहते थे जिनके अनुसार वह विलासी जीवन का सुख लूटते थे। नागरक सोकर उठने के बाद गोष्ठी बिहार के लिए प्रसाधन करता था, अंगराग, उपलेपन, माल्य-गंध, उत्तरीय संभाल कर वह गोष्ठियों में जाता था गोष्ठियों से लौटने के बाद वह साध्य कृत्यो से निवृत्त होता था और सायंकाल सगीतानुष्ठानो का आयोजन करता था या अन्यत्र आयोजित सगीत का रस लेने आता था। इन संगीतकों में नाच, गान अभिनय आदि हुआ करते थे।[1] इन समाजों से लौटकर भी नागरक कुछ न कुछ मनोविनोदों में लगा रहता था। इस प्रकार प्रातः काल से संध्या तक एक कलापूर्ण विलासिता का वातावरण उपस्थित रहता था जिसमें तत्कालीन समाज अपने धन का सुख जम कर भोगता था और अपनी प्रचुर धनराशि के उपयोग में अपने साथ एक बड़े भारी जन-समुदाय की जीविका की भी व्यवस्था करता था। वह काव्य, नाटक, आख्यान, आख्यायिका आदि की रचनाओं को प्रत्यक्षरूप से उत्साहित करता था और नृत्य गीत, चित्र और वाद्यका तो वह आश्रयदाता ही था। वह रूप रस गंध स्पर्श आदि सभी इन्द्रियार्थों के भोगने में सुरुचि का परिचय देता था और विलासिता में आकंठ मग्न रहकर भी धर्म और आध्यात्म से एक दम उदासीन नहीं रहता था।[2] किन्तु अध्यात्म तथा धर्म की अपेक्षा भोग विलास को वह जीवन में महत्त्वपूर्ण समझता था। वात्स्यायन का कामसूत्र इसका प्रमाण है कि सामाजिक मर्यादाओं ने इस विलासी जीवन को पूर्णतः अन्तर्भुक्त कर लिया था क्योंकि आनन्द तथा विलास क्रिया की सारी गतिविधि का सचालन कामसूत्र में उद्धृत नियमों के अनुसार ही होता था।

१—प्राचीन भारत का कला विलास—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी प्र० सं० पृ० १४।

२—वही।

नगर और राज दरबार धीरे-धीरे विद्या और कला के केन्द्र बन गये जहाँ विद्वानों और कलाकारों का जमघट सा लग गया। भारतीय ऐतिहासिक रंगमंच पर महात्मा बुद्ध के प्रवेश होने तक राजाओं, राजकुमारों तथा रईसों पर विलासिता का ऐसा रंग चढ़ गया था कि वे उससे मुक्त भी नहीं होना चाहते थे। राजनैतिक तथा सामाजिक कार्यों को वे नितान्त भूलकर नित्य विभिन्न ऐसे आकर्षक एवं सुन्दर साधनों की खोज में व्यस्त रहते थे जिनके उपयोग से वे विभिन्न क्षेत्रों से लाई गयी रमणियों के रूप एवं यौवन का रस सानन्द लूट सकते। देश के विभिन्न क्षेत्रों से सुन्दरियों को इकट्ठा करना दरबारी वैभव का एक आवश्यक अंग बन गया था। भौगोलिक सीमाओं एवं वातावरणो का प्रभाव मनुष्य के मानसिक एवं शारीरिक दोनो ही योग्यताओं और रुचियों पर अबाध रूप से पड़ता है। गंगा-जमुना के धरातल की स्त्रियाँ केवल आलिंगन पसंद करती हैं। उज्जैन की स्त्रियाँ असाधारण कामुक होने के कारण एक व्यक्ति के ही आलिंगन से सन्तुष्ट नही हो पातीं। मालवा और आधुनिक दिल्ली के निकट की स्त्रियाँ चुम्बन, खरौंच और मसलना पसन्द करती हैं। पंजाब और सिंध की स्त्रियाँ नित्य वासना लीला की इच्छा रखती हैं जिसके अभाव में वे असन्तुष्ट रहती हैं। बम्बई और गुजरात की स्त्रियाँ इतनी अधिक कामुक होती हैं कि केवल चुम्बन, खरौंच और मसलने से ही उनकी तृप्ति नहीं हो पाती जिससे रतिक्रिया उनके लिये आवश्यक है। हिमालय की तराई और अवध क्षेत्र की स्त्रियाँ अत्यधिक कामुक होती हैं जिससे उनमें वासना वृत्ति तीव्र होती है। महाराष्ट्र की स्त्रियाँ अपनी कामुकता का प्रदर्शन ललित कलाओं के प्रयोग के माध्यम से करती हैं जो अत्यन्त अश्लील और अशिष्ट होती हैं, जिससे उनकी काम भूख की चरम परिणति हो जाती है। जयपुर की स्त्रियाँ प्रेम व्यापारो में अत्यन्त कलात्मकता पसन्द करती हैं। दक्षिण की स्त्रियाँ आलिंगन मात्र से कामुक हो जाती हैं किन्तु उनमें वासना की उद्धतता नहीं होती और बंगाल की स्त्रियाँ मधुर तथा कोमल होती हैं जिससे वे सज्जनों की ओर ही आकर्षित होती हैं। यह सभी नागरक के ज्ञातव्य विषय थे क्योंकि उसकी बैठकों में उपरोक्त क्षेत्रों की स्त्रियाँ होती थीं और उसे अपनी तुष्टि के साथ उन्हें भी संतुष्ट करना था। इस प्रकार जब मानव समाज अपने सर के वल भौतिक सुखों की ओर झुका तो स्त्रियाँ सर्वप्रथम उसकी शिकार हुई। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस युग में स्त्रियों का बदला हुआ वह तीसरा स्तर था जिसमें वह केवल पुरुषों की वासना को तृप्त करने की ही वस्तु रह गई थी। नारी की इस पतनावस्था का उत्तरदायी एक मात्र पुरुष ही नहीं था बल्कि वह भी बहुत कुछ इसकी जिम्मेदार थी। उसकी श्रृंगार एवं कलाप्रियता तथा चौसठों कलाओं के अभ्यास ने संगीत, नृत्य, संवाद, लेखन, चित्रण जैसी अनेक ललित कलाओं को प्रोत्साहित अवश्य किया किन्तु इनसे उत्पन्न आकर्षण के कारण उसे अपनी सारी कलाओं की बलि वासना युक्त शारीरिक सुखों की वेदी पर दे देनी होती थी और पुरुष की वासनासिक्त कँपती हुई भुजाओं के कठोर आलिंगन में क्षण भर को वह अपने को भूलकर अपना सब कुछ दे देने को व्याकुल हो उठती थी। यही उसकी ललित कलाओं का अन्त था किन्तु इसके कारण व्यापक सुरुचि एवं कलात्मक भावों का जो मानव मन में उदय हुआ उसने देश की कलाओं को अनेक दृष्टियों से प्रभावित किया इसमें सन्देह नहीं।

आगे चलकर मौर्य साम्राज्य की स्थापना होने पर क्षत्रियों की प्रभुता बढ़ने लगी

और साथ ही साथ भोग-विलास और विभव अभिमान की भी लिप्सा बढ़ चली और इसकी पूर्ति के लिये अनेक कलाओं और विज्ञानों का आविर्भाव और विकास हुआ। सम्राट के वैभव और अभिमान निर्धन की कुटिया में कैसे समा सकते थे? उनके लिये प्रासादों का निर्माण हुआ। कलाकारो ने सम्राटों के लिये आभूषण बनाये, कवियो ने उनके वैभव का गान गाया, गवैयों और नर्तकों ने उसका मन बहलाया। काव्य कला में एक महान् परिवर्तन हुआ। ऋषियों के स्थान पर राज-सभासदों ने कवि और दार्शनिक का उच्च आसन ग्रहण किया। बाल्मीकि और व्यास का स्थान कालिदास और वाण, चंद और नरपति नाल्ह बिहारी और पद्माकर ने ले लिया। काव्य की नैसर्गिक अनुष्टुप-धारा के स्थान पर कलापूर्ण महाकाव्य, खंड काव्य, नाटक इत्यादि की रचनायें होने लगीं जिसमें आर्य सभ्यता के स्थान पर आर्य सम्राटों के वैभव गाये गये[1]। महाकवि कालिदास की रचनाओं के पूर्व ही संस्कृत काव्यों पर क्षत्रिय सस्कृति से ओत-प्रोत विलासी एवं वैभवपूर्ण राजदरबारी समाज के प्रभाव लक्षित होने लग जाते हैं किन्तु कालिदास और उनकी बाद की रचनाओं में तो वे अत्यन्त स्पष्ट से देखे जा सकते हैं जिनकी भूमि पूर्व ही निर्मित हो चुकी थी।

चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल से ही वैभव विलास के पूर्ण संकेत हमें दिखलाई पड़ने लग जाते है और यह भी प्रकट हो जाता है कि ब्राह्मण सस्कृति अपना भरपूर बल लगाकर भी समाज में उत्पन्न प्रवृत्ति मूलक भावनाओ को दबा देने में असमर्थ सिद्ध हो रही थी। चन्द्रगुप्त मौर्य शहर से दूर एक झोपड़ी में निवास करने वाले निवृत्तिमार्गी आचार्य चाणक्य के संकेतों पर भले ही नाचता रहा हो किन्तु राजकीय व्यवहार में आने वाले पात्र स्वर्ण निर्मित ही होते थे, सोने की पालकी तथा सोनहले कामदार वस्त्रों का ही प्रयोग किया जाता था। कुशल नायिकाओं तथा नर्तकियों को दरबार में प्रवेश पाने का सम्मान प्राप्त था। कलाविद् स्त्रियाँ महलों में सेवा के लिये रख ली जाती थीं। इतना अवश्य था कि दरबारों से सम्बन्धित नायिकाओं पर नियन्त्रण कड़ा रखा जाता था और उनमें से जो व्यवसाय करती थीं उन्हें खजाने में कर जमा करना पड़ता था। ब्राह्मण संस्कृति का क्षत्रिय संस्कृति से यह अन्तिम युद्ध था जिसमें राजनीतिक दृष्टि से विजयी होने पर भी सामाजिक दृष्टि से आचार्य चाणक्य को मुँह की खानी पड़ी।

सामाजिक प्रवृत्तियों के विकास के साथ ही साथ साहित्यिक प्रवृत्तियों का भी विकास हुआ इसमें सन्देह नहीं। संस्कृत काव्य का प्रथम अवतार सात्विक भावना से नितान्त अनुप्राणित आश्रम के वातावरण में होता है, परन्तु उसका अभ्युदय सरस्वती के वरद पुत्रों को आश्रय देकर कवि कला को प्रोत्साहन देने वाले राजाओं के दरबार में होता है। संस्कृत के मान्य कवियों का सम्बन्ध वैभवशाली महिपालों के साथ सर्वदा स्थापित था। विक्रमादित्य के बिना न कालिदास का उदय सम्भव था, न हर्षवर्धन के बिना बाणभट्ट का। राजाओं की कलाप्रियता के कारण कवियों का दरबारो में अपूर्व सम्मान था और राजा गण उनकी अभ्यर्थना करने में कुछ भी उठा नहीं रखते थे। सम्मानित कविगण अधिकाधिक आदर एवं धन प्राप्ति की कामना से जी खोलकर राजाओं एवं उनके द्वारा आर्जित विलास सामग्रियों की भरपूर प्रशंसा करते थे। राजाश्रय में ही कविजनो की कलात्मक वाणी को फूटने का

१—आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास—डा० श्री कृष्णलाल तृ० सं० पृ० ७-८।

अवसर मिल सकता था क्योंकि उनकी रंगशाला में ही कवि जनों की नाट्य कला एवं वाणी बिदग्धता अपना रमणीय प्रदर्शन कर सकती थी। राजाओं के दरबार कला-कौशल, संस्कृति तथा सभ्यता के प्रधान केन्द्र थे जहाँ कवियों की नैसर्गिक प्रतिभा को कलात्मक बनाने का पूर्ण अवसर दरबारों में पाये जाने वाले कला के समस्त उपकरणों के माध्यम से सुलभ थे। लक्ष्मी और सरस्वती का जो अभूत पूर्व सम्मिलन इस क्षत्रिय संस्कृति के माध्यम से हुआ उसने काव्यों में प्रवृत्ति मूलक भावना को उकसा कर अत्यन्त मनोरम अलंकृत काव्यों की कलात्मक परम्परा की नींव देकर उसे आगे बढ़ाया जिसके नायक भी प्रायः महीपाल आदि ही होते थे। इस प्रकार राजसी वातावरण के अभ्युदय तथा प्रसार पाने से संस्कृत काव्य नितान्त अलंकृत, सुश्लिष्ट तथा प्रभावशाली बन कर हमारे सामने आया।

नगर सभ्यता के प्रतिनिधि तत्कालीन समाज की रुचि तथा प्रवृत्ति का मनोरम रूप हमें संस्कृत काव्य के पृष्ठो पर मिल जाता है। उस समय की शिष्टता तथा संस्कृति का भव्य प्रतीक होता था नागरक, जिसका जीवन ही कला की पूर्ण उपासना में व्यतीत होता था। नागर के दैनन्दिन जीवन का चटकीला वर्णन 'वात्स्यायन' के 'कामसूत्र' में हमें उपलब्ध होता है। नागरक का जीवन प्रातः काल से लेकर रात के पिछले पहरों तक कला-उपासना की एक दीर्घ परम्परा होता था। सुखमय जीवन बिताना ही उसका परम लक्ष्य था और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये वह सुखमयो सामग्रियों को एकत्र कर जीवन को सरस, मधुर तथा मधुमय बनाता था। उसके प्रत्येक कार्य में कला तथा भव्यता, सौन्दर्य तथा माधुर्य का दर्शन हमें प्राप्त होता है। उद्यान के भीतर उसका रुचिर निवास, स्वच्छ सुथरे साभान, पुस्तकों का चयन, नागदल के ऊपर लटकने वाले सफेद धुले हुये रेशमी वस्त्र कर्णों में स्वर लहरी को घोलने वाली वीणा-नागरक के ये सहज परिकर उसके सरल हृदय तथा कला-प्रेम के भव्य निदर्शन थे। संस्कृत के कविजनों ने नागरक के जीवन को चित्रित करने का प्रयास अपने काव्यों तथा नाटकों में किया है।[1] काव्य के क्षेत्र में जिसका चरम विकास हम 'श्री हर्ष' के 'नैषध-चरित' में देख सकते हैं।

राजसी वातारण नागरिक जीवन और क्षत्रिय संस्कृति से प्रेरणा प्राप्त कर लिखा हुआ 'संस्कृत का काव्य साहित्य एक ऐसी रमणीक और मन लुभाने वाली वाटिका है जिसमें काव्य रस लोलुप भ्रमर हर तरह के रस का स्वाद लेता हुआ बिहार कर सकता है। कालिदास, भवभूति, भारवि, बाण, दण्डी, श्रीहर्ष इत्यादि कवियों के काव्य इस वाटिका की अनेक सुन्दर-सुन्दर क्यारियाँ हैं। इन क्यारियों में मीठी और तीखी सुवास काव्य रस बासना-विदग्ध पाठकों को अपनी ओर अनायास आकर्षित कर लेती है।[2] काव्य की इस परम्परा का अजस्र स्रोत उस काल तक प्रवाहित होता रहा जिस काल तक देश की राजसत्ता क्षत्रियो अथवा हिन्दू राजाओं के हाथ में थी। भारतीय राज्यों के नष्ट हो जाने तथा विदेशियों के आगमन के कारण देश की समस्याओं में परिवर्तन हुआ जिससे कुछ काल के लिये कलात्मक

१—संस्कृत साहित्य का इतिहास-बलदेव उपाध्याय-च० सं० पृ० ११६

२—सरस्वती पत्रिका-अक्टूबर १९१५-भाग १६ खड २।

काव्य की धारा मन्द पड़ गयी क्योंकि साहित्य तथा समाज के सामने अनेक नये प्रश्न सुलझाने के लिये उपस्थित थे।

अलंकरण की प्रवृत्ति—

ब्राह्मण सस्कृति जिसे कला की दृष्टि से एक प्रकार से भारतीय कला एवं सभ्यता का अंधकार काल कह सकते हैं, के बीच से ही बौद्धकालीन प्रभात की किरणे तो फूटी किन्तु उनके द्वारा भी जो विरक्ति भावना का ही प्रचार हुआ उसकी भी समाज में प्रतिक्रिया हुई और जिन राजसी वैभवो का ऊपर सकेत किया गया है उनका पारस्परिक विकास प्रतिक्रिया की ही देन है। क्षत्रिय संस्कृति की प्रवृत्ति मार्गी प्रेरणा से मंडन और अलंकरण की वृत्ति विकसित हुई इस वृत्ति का उद्‌गम राजन्य वर्ग की अंतश्चेतना से था जिसने उनके सम्पूर्ण जीवन परिवेश और संस्कृत में परिलक्षित हो उसे अभिभूत कर दिया। बड़े बड़े प्रभावशाली राज्यों के स्थापित हो जाने के कारग ही कलाओं को प्रत्येक दिशा में विकसित होने का अवसर मिला। 'वात्स्यायन' ने अपने 'कामसूत्र' में जिन चौसठ कलाओं का वर्णन किया है वे सभी क्षत्रिय संस्कृति की मंडन-प्रवृत्ति की देन हैं। संगीत, चित्र, नृत्य, मूर्ति तथा काव्य आदि सभी कलाओं पर इस मंडन-प्रवृत्ति का प्रभाव पड़ा क्योंकि राज-दरबारों के ये शोभावारक धर्म अथवा प्रधान तत्व थे जिनकी शिक्षा-दीक्षा की समुचित व्यवस्था भी राजाओं की ओर से की जाती थी। गाना, बजाना, सुन्दर चित्र बनाना, फूलों के गुलदस्ते बनाना, असली-नकली रत्नों की परख करना, उत्तम सीना, रंगों का बनाना और रंगना, तीतर तथा मेड़े आदि लड़ाना और उन्हे उड़ाना, नचाना आदि कलाओं का तत्कालीन राजसी वातावरण में अत्यधिक सम्मान बढ़ गया था। लोग घर में पाले हुए पक्षियों के पर तक कलात्मक ढंग से रंगते थे, घोड़ो के केश और पूंछ के बाल तथा हाथियों के मस्तक बड़ी ही कलात्मकता के साथ रंगे जाते थे। स्त्रियाँ अपनी हथेलियों टेढ़ी-मेढ़ी रंगीन रेखाओ से सजातीं और पुरुष अपने मस्तक चन्दनादि पवित्र रंगों से सुरुचिपूर्ण ढंग से रंगते थे। मागलिक अवसरों पर चौक आदि पूरने (बनाने) की जोरदार तैयारियाँ की जाती थीं जिसका भार कुशल कलाविद् पर ही छोड़ा जाता था। दीवारों तथा दरवाजों पर नाना प्रकार के चित्रों को जो आज भी उरेहा जाता है, जिसके बिना विवाहादि अवसर पूरे ही नहीं होते, वे भी उसी काल की मनोरम स्मृतियाँ हैं।

भुवनेश्वरम् की कलात्मक मूर्तियाँ, नृत्य तथा संगीत की दिशा में हुई अपूर्व कला-त्मक वृद्धि, चित्रकारिता तथा काव्य में अलंकरण की प्रवृत्ति आदि सभी उसी सामाजिक मनोवृत्ति एवं वातावरण की देन है जिसे क्षत्रिय संस्कृति ने उत्पन्न किया था। कलाओं का प्रधान कार्य सामाजिक प्रवृत्ति को प्रकट करके उसमें निवास करने वाले व्यक्तियों को आनन्दित करना है, चाहे वे सगीत तथा नृत्य कलाये हों, चित्र तथा मूर्ति कलायें हों अथवा काव्य कला हो और हम देखते हैं इन सभी कलाओं पर तत्कालीन वातावरण का प्रभाव है।

दैनिक जीवन मे कलाओं का उपयोग—

प्राचीन हिन्दू भारत का रसिक नागरक अपने दैनिक जीनन में मनोविनोद के लिये सभी ललित कलाओं का उपयोग करता था। भोजन के बाद सोना, तथा दिवा शय्या करने

के पहले नागरक लेटे-लेटे थोड़ा मनोविनोद करता था। शुक-सारिका (तोता मैना) का पढ़ाना, तितर और बटेरों की लड़ाई, भेड़ों की भिड़न्त उसके प्रिय विनोद थे। उसके घर में हंस, कारण्व, चक्रवाक, मोर, कोयल आदि पक्षी, बानर, हरिन, व्याघ्र सिंह आदि जन्तु भी पाले जाते थे, समय-समय पर वह उनसे भी मनोरंजन करता था। इस समय उसके निकटवर्ती सहचर पीठमर्द, विट, विदूषक भी जाया करते थे, वह उनसे आलाप भी करता था, फिर सो जाता था[1]। साधारण नागरिक भी धनिकों द्वारा आयोजित उत्सवो में सम्मिलित होते थे जिसका प्रमाण तत्कालीन संस्कृत साहित्य में मिल जाता है। मृच्छकटिक का रोमिल नामक सुकंठ नागरक संध्या के बाद ही अपने घर पर आयोजित संगीतक नामक मजलिस में गान किया करता था। 'वात्स्यायन' ने 'कामसूत्र' में ललित कलाओं को महत्वपूर्ण स्थान देते हुये उनका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उसने कामशास्त्र के अंग विद्या स्वरूप चौसठ कलायें मानी हैं जिनमें २४ कर्माश्रय, २० द्यूताश्रय, १६ शयनोपचारिका तथा ४ उत्तर कलाओं के अन्तर्गत आती हैं।

गाना, बजाना, नाचना, देश-देश की भाषा और अक्षर जानना, उदार वचन बोलना, सुन्दर चित्र बनाना, पत्र आदि पर अक्षर आदि बनाना, फूलों के गजरे बनाना, फूलो के गुलदस्ते बनाना, स्वादिष्ट भोजन बनाना, रत्नों के असली-नकली होने की परख करना, उत्तम सीना, रंगों का बनाना और रंगना, और जितनी रसोई बनानी हो उसे बनाने से पहले उचित परिमाण में इकट्ठी रखना, मान करने की रीति, अपने निर्वाह की या संचय की विद्या पशु-पक्षी आदि की चिकित्सा, दूसरे द्वारा किये गये कपट को जान लेना तथा स्वयं करना, खेलने की होशियारी, हर व्यक्ति की परख रखना तथा उसके साथ बर्ताव जानना, प्रत्येक बात की समझदारी, चरणादिक दाबने की रीति, देह का स्वच्छ रखना तथा बाल गूँथना बेंदी लगाना आदि ये २४ कलायें कर्माश्रय के अन्तर्गत आती हैं। पासों के खेल को यथार्थ रीति से खेलना, पासे डालने या बजाने की रीतिं की जानकारी करना, होड़ बदकर मूठ धरना, गोटों के चलने का मार्ग, होड़ के चलने का मार्ग, होड़ के अनुकूल होने पर पति के साथ द्रव्य निकालना, हार जीत का वह न्याय करना जो दोनों मान लें, होड़ में हराये हुये द्रव्य को लेना, अनेकों खेलों को जानना, मुट्ठी में पैसे रखकर बुझाना-बताना, बराबर लेना-देना, जल्दी ले लेना, जीते हुये का हिसाब जानना, खेल के समय आगे दाँव चलने की क्रिया, कपट से भुलावा देना, ग्रहण किये को देना ये १५ द्यूत कलाओं के अन्तर्गत आती हैं जो बिना जीव के निष्पन्न होती हैं और तीतर भेड़े आदि को लड़ने के लिये खड़ा करना, उन्हें लड़ाना, बुलाना, उड़ाना (भगाना) तथा नचाना आदि पाँच कलायें भी द्यूत कलाओं के अन्तर्गत आती हैं जो जीवधारी के बिना निष्पन्न नहीं होती। दोनों को मिलाकर २० कलाये द्यूताश्रय के अन्तर्गत मानी जाती हैं। दूसरों के भावो को जान लेना, दूसरो पर अपने राग को प्रगट करना, क्रमशः अपने अंगों को देना, नखच्छद और दन्तच्छद की विधि, नाड़े का खोलना, गुह्यांग का विधि से सीधा छुआना, रमण की चतुराई, प्रसन्न करना, बराबर की तृप्ति कर लेना या दूसरे को तृप्त करना, कृतार्थ हो जाना, रमण के लिये उत्साहित करना, थोड़े गुस्से में करके कार्य में लग जाना, क्रोध का निवारण कर देना, कुपित को

१—प्राचीन भारत का कलाविनोद—हजारी प्रसाद द्विवेदी, द्वि० सं० पृ० १४।

प्रसन्न कर लेना, सोते हुए का परित्याग, आखिर के सोने की विधि और गुप्त अंगों का छिपाना ये १६ कलायें शयनोपचारिका कला के अन्तर्गत आती हैं। दुःखित हृदय के आँसुओ को टपकाकर कहना कि ऐसी अवस्था में मुझे छोड़कर अन्यत्र जाने में कल्याण न होगा, जाते हुए को अपनी कसमें दिलाकर रोकना फिर भी न रुके तो पीछे जाना तथा न हाथ आने पर उसे बार बार देखना ४ उत्तर कलायें हैं जो सब मिलाकर ६४ होती हैं जिनका व्यापक प्रयोग तत्कालीन समाज में होता था। नागरक अपने दैनन्दिन जीवन में इन ललित कलाओ के सम्पन्न होने में अपना पूर्ण योग देता था तथा उसके सम्पन्न होने में स्वतः सक्रिय-रूप से भाग लेता उनका रस लूटता था। उसके आसपास ऐसे लोगो का समाज इकट्ठा रहता था जो कलापूर्ण वातावरण निर्मित करने में पूर्ण योग देते थे। दरबारो का यह कलात्मक वातावरण साधारण लोगों से लेकर ऋषियों तक के लिये ईर्ष्या और आकर्षण की वस्तु बन गया था।

सामंती वातावरण का अन्य कलाओं पर प्रभाव—

मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के विकास की माँग ने जिस क्षत्रिय संस्कृति और दरबारी सभ्यता को जन्म दिया उसने अपनी कला-प्रियता तथा अलंकारप्रियता के कारण भारतीय समाज को सभी दृष्टियों से प्रभावित किया। कलाएँ व मनोरंजन के क्षेत्र में मुख्यतः काव्यकला, स्थापत्यकला, मूर्तिकला, चित्रकला और नृत्य-संगीत कला का महत्त्वपूर्ण स्थान है और इन महत्त्वपूर्णतत्त्वों की अभूतपूर्व उन्नति इन सामंती दरबारों के कारण हुई।

काव्यकला—

काव्य शब्द अत्यन्त व्यापक है जिसके अन्तर्गत साहित्य के सभी प्रकार सिमिट कर आ जाते हैं। यहाँ काव्य से तात्पर्य मुख्यतः कविता से है जो किसी भी साहित्य का मुख्य अंग हुआ करती है। आधुनिक युग में मानव जीवन की समस्यायें इतनी विषम हो गई है, उनमें इतनी विविधता आ गइ है कि उनकी अभिव्यक्ति के कारण ही साहित्य के आज विविध रूप दिखाई पड़ने लग गये हैं। किसी भी देश के साहित्य का आरम्भ प्रायः कविता से ही मिलता है और आज भी अनेक साहित्य रूपो के होते हुए भी साहित्य नाम से हम सहसा कविता का ही अर्थ लगा लेते हैं। किसी भी देश का साहित्य वहाँ के जीवन का जीवंत इतिहास होता है। मानव विचारों एवं अनुभूतियों की निधि साहित्य के माध्यम से ही सचित रह पाती है। साहित्य और समाज एक दूसरे का सहारा छोड़कर अधिक समय तक नहीं चल सकते। कविता साहित्य का प्रमुखतम अंग है और सामाजिक मनोवृत्तियों तथा प्रभावों की सशक्त अभिव्यक्ति करने की उसमें क्षमता भी है। साथ ही साथ उसकी कुछ स्वाभाविक दुर्बलतायें भी हैं जिनके कारण उत्तरोत्तर बढ़ती हुई मानव समस्याओं को आज कविता व्यक्त करने में असफल प्रमाणित हो रही है। आधुनिक युग में समर्थ गद्य साहित्य के होते हुए भी जो कविता का अपना महत्त्व अक्षुण्ण है उसके मूल में उसका आकर्षक स्वरूप तथा उसके रमाने और समस्त जीवन को अभिभूत कर देने की शक्ति है।

कविता में कल्पना का योग अधिक रहता है जिससे इसका बहुत कुछ सम्बन्ध मानव मन की प्रवृत्तियों एवं रुचियों से ही है। सामाजिक रुचियों में आने वाले परिवर्तनों के

साथ-साथ कविता के स्वरूप और उसे देखने की दृष्टि में भी परिवर्तन होता रहता है। यही कारण है कि आदिकाल में कविता के प्रति जो दृष्टिकोण था, वह भक्ति-काल में नहीं रह सका। समसामयिक मान्यताओं के अनुसार ही तत्कालीन विद्वान कविता की परिभाषा करते रहे हैं किन्तु कविता के जिस आवश्यक अंग की कभी भी अवहेलना नहीं की जा सकी वह है उसकी रमणीयता तथा आनन्दमूलक स्वरूप जिसके कारण वह मानव सृष्टि के आदि से लेकर आज तक हमारे साथ है और भविष्य में भी रहेगी।

जिस रमणीयता तथा आनन्द की सृष्टि कविता के माध्यम से होती है उसका आधार भौतिक नहीं बल्कि मानसिक है। अन्तर्मन की तीव्र अनुभूतियाँ स्वरूप प्राप्त करने के लिये छटपटाने लगती हैं और कल्पना के सहारे कवि उन्हे जब कलात्मक भाषा का स्वरूप प्रदान करता है तो कविता की सृष्टि होती है। अनुभूत भावों को वास्तविक स्वरूप प्रदान करने के लिये कवि अपनी सारी कला-शक्ति का उपयोग करता है जिसमें उसकी दृष्टि सबसे अधिक सौन्दर्य की ओर रहती है, जिसमें भाषा, भाव, अभिव्यक्ति तथा छन्द आदि सभी के सौन्दर्य आते हैं। कौन सी वस्तु सुन्दर है और कौन सी वस्तु असुन्दर, इसका ठोस परिमाण नहीं है और न कुछ निश्चित ऐसे नियम ही हैं जिनके आधार पर हम सुन्दर और असुन्दर का निर्णय कर दे। इस प्रकार के निर्णय में वैयक्तिक तथा सामाजिक रुचियाँ महत्त्वपूर्ण कार्य किया करती हैं। किसी वस्तु को सुन्दर और असुन्दर हम अपने देखने के अभ्यास से कहते हैं और इसी आधार पर सम्भवतः काल विशेष में सुन्दर काव्य के स्वरूप की रूपरेखा निश्चित की गयी होगी।

हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काव्य के सम्बन्ध में जो निर्णय दिये जाते हैं उन पर सामयिक रुचि एवं परिस्थितियों तथा वैयक्तिकता आदि का पूर्णतः प्रभाव रहता है। कविता का मुख्य प्रयोजन आनन्द माना गया है। कविता का यह आनन्द साधारण नहीं बल्कि लोकोत्तर होता है। इस आनन्द की प्राप्ति कविता को छोड़कर अन्यत्र नहीं हो सकती। यों तो भूत-मात्र की उत्पत्ति आनन्द से है, जीवन की स्थिति भी आनन्द से ही है, तथा उसकी प्रगति और निलय भी आनन्द में ही है, फिर भी कविता का आनन्द निराला है। आत्मा के आनन्द का प्रकाश कला द्वारा ही होता है[१]। यही आत्मा के आनन्द का प्रकाश कविता के रूप में विभिन्न कवियों द्वारा कला के माध्यम से प्रकट होता रहा है, जिससे विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से कविता को परिभाषा की सीमा में बाँधने का प्रयत्न किया है। संस्कृत साहित्य के अन्दर इस प्रश्न को लेकर काफी छान-बीन हुई है और मत वैभिन्न के कारण अनेक सम्प्रदायों की सृष्टि हुई है जिसके प्रवर्तक अपने-अपने ढंग से कविता की परिभाषा करते रहे हैं।

अलंकार सम्प्रदाय के अन्तर्गत चमत्कार को ही काव्य का मूल मंत्र मान लिया गया है किन्तु रसवादियों द्वारा दी गई काव्य की परिभाषा का अधिक स्वागत किया गया। रस सम्प्रदाय के महत्त्वपूर्ण संस्थापक आचार्य विश्वनाथ ने काव्य की परिभाषा देते हुए 'वाक्यं रसात्मकम् काव्यम्' कहा है जो सबसे अधिक प्रचलित हुई। उनके मतानुसार रसानुभूति

१—कृष्णबिहारी मिश्र—मतिराम ग्रन्थावली—वृ० स० पृ० १६

के लिये सत्वोद्रेक और आत्म-प्रकाश आवश्यक है। यह रसानन्द ब्रह्म स्वाद सहोदर है[१]। पंडितराज जगन्नाथ ने इसे 'निज स्वरूपानन्द' कहा है। कुशल कवि जब अपनी पूर्णकलात्मकता के साथ अलौकिक वर्णन प्रस्तुत करता है तो काव्य की अनुपम सृष्टि होती है[२]। इस सृष्टि का सहज संवेद रसभाव तत्काल ही पाठक या श्रोता के मन में आनन्द की उत्पत्ति करता है। जिस आनन्द का हम अनुभव करते हैं उसका कोई स्वरूप नहीं होता बल्कि उसे एक विशिष्ट प्रकार का भाव ही कहा जा सकता है। कवि अथवा कलाकार अपने उद्भूत ज्ञान को जब सर्व सवेद्य बनाना चाहता है तो कल्पना का सहारा लेकर काव्य की परम्परा अवतरित होने लगती है जिसे वह सुन्दर भाषा एवं छन्द में बाँधकर कविता का रूप देता है। जिसे रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'आनन्दातिरेक का परिणाम कहा है[३]।' वर्ड्सवर्थ के काव्य सम्बन्धी विचारों में भी टैगोर की काव्य कल्पना का स्रोत मिल जाता है क्योंकि उसने भी आनन्दातिशय की अभिव्यक्ति को काव्य का लक्ष्य कहा है[४]। इसके अतिरिक्त उसने निश्चयपूर्वक यह स्वीकार कर लिया है कि प्रबल वेगवती भावनाओं की स्वाभाविक उमड़न ही कविता का रूप धारण करती है और प्रशान्त क्षणों में स्मृत मनोवेगों से ही इसकी उत्पत्ति होती है[५]।

वस्तुतः कविता एक कल्पित इतिहास का दूसरा नाम है जो गद्य या पद्य किसी रूप में लिखी जा सकती है। इस कल्पित इतिहास की उपयोगिता इस बात में है कि इसके द्वारा मनुष्य के मस्तिष्क की उन वृत्तियों को तृप्ति मिलती है जिसे प्रदान करने की क्षमता प्रकृत वस्तु में नहीं है। बाह्य ससार आत्मा से कहीं अधिक क्षुद्र तथा अल्प है, उसमें मानव आत्मा के अनुरूप महनीयता या भव्यता नहीं। यही कारण है कि मनुष्य की आत्मा से मेल खाने वाली एक उच्चतर महनीयता, उच्चतर औचित्य और विविधता का अस्तित्व अवश्य है जो प्रकृत वस्तुओं में नहीं पाई जाती।[६] महावीर प्रसाद जी द्विवेदी ने कविता के प्रभावोत्पादक गुण पर ही विशेष बल दिया है और स्वीकार किया है कि जो बात असाधारण ढंग से शब्दो द्वारा इस तरह प्रकट की जाय कि सुनने वाले पर उसका कुछ असर जरूर पड़े, उसी का नाम कविता है।[७] इस प्रकार पाश्चात्य विद्वानों और भारतीय विद्वानो में प्रभावोत्पादकता के सबंध में ऐक्य होने के साथ ही साथ अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में तात्विक अन्तर है। काव्य सम्बन्धी

१—हिन्दी रीति-साहित्य, डा० भगीरथ मिश्र, प्र० सं० पृ० ६५।

२—...सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनतरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दं......यत्काव्य-लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म......(मम्मट)।

३—"Man in his role of creator of is ever creating forms and they come out of his abounding joy." (Rabindra Nath)

४—"The end of poetry is to produce exitement in co-existence with an over balance." (Words Worth)

५—"Poetry is the spontaneous over flow of powerful feeling, it takes its origin from emotions recollected in tranquilty." (Words Worth)

६—रोमाटिक साहित्य शास्त्र-देवराज उपाध्याय प्र० सं० पृ० ३३।

७—रसज्ञ रंजन-महावीर प्रसाद द्विवेदी पृ० ३६।

विचारधारा की एक दीर्घ परम्परा भारतीय साहित्य में रही है जिसको केन्द्र मानकर समयानुसार थोड़ा बहुत परिवर्तन-परिवर्द्धन होता रहा है किन्तु उसकी आत्मा में विशेष अन्तर नहीं आने पाया और जहाँ से हमें स्पष्ट भेद दिखलाई पड़ने लग जाता है निश्चित ही उसपर पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य का चरम लक्ष्य 'सर्व भूत को आत्म भूत कराके अनुभव कराना' माना है।[1] जिससे स्पष्ट हो जाता है कि जिस कविता के माध्यम से अनुभूत ज्ञान का अभिव्यक्ति जितनी ही अधिक सफलता के साथ हो सके वह उतनी ही उत्तम कोटि की कविता है। इससे मिलती जुलती ही परिभाषा आचार्य पं० हजारी प्रसाद जी द्विवेदी की भी है किन्तु उनमें भारतीय एवं पाश्चात्य का अद्भुत समन्वय दिखलाई पड़ता है। द्विवेदी जी के अनुसार 'कवि चित्त जब बाह्य परिस्थितियों के साथ समझौता नहीं कर पाता तब छन्दो की भाषा अत्यन्त प्रभावशाली हो कर प्रकट होती है, आन्तरिक सौन्दर्यानुभूति और बाह्य असुन्दर सी लगने वाली परिस्थिति की टकराहट से जो विक्षोभ पैदा होता है वह सब देशों में काव्य की भाषा को मुखर बना देता है, उसमें सम्मूर्तन का रूप और आवेग का पंख लगा देता है।[2] इससे स्पष्ट हो जाता है कि सौन्दर्य की अभिव्यक्ति असुन्दर के प्रतिक्रिया स्वरूप ही होती है। असुन्दर के आधार पर भावुक कवि अनुभूत भावों के सहारे सुन्दर की कल्पना करता है और उसकी कल्पना को जब भाषा का शरीर प्राप्त हो जाता है तो हम उसे कविता कहते हैं, छन्द, मात्रा तथा अलंकार जिनके आवश्यक तत्त्व हैं। कवि द्वारा व्यक्त किये गये अनुभूत भावों में पाठक अथवा स्रोता का भी मन रमता है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि उसके अन्तर्मन में वे भाव छिपे रहते हैं जो कवि की वाणी का सान्निध्य पाकर उद्‌बुद्ध हो उठते हैं। अतः कविता के लिये चाहे वह किसी भी देश अथवा साहित्य की क्यों न हो, सौन्दर्य तत्त्व का होना अनिवार्य है जो वास्तविक से अधिक काल्पनिक होता है।

कल्पना का क्षेत्र विशाल है जिसके परिवेश में समस्त मानव सृष्टि अथवा उसके भाव जाग्रत अथवा सुसुप्तावस्था में विद्यमान रहते हैं। वैसे तो कल्पना का मूल जहाँ तक उसकी अभिव्यक्ति का सम्बन्ध है, आन्तरिक ही होता है जिसे स्वरूप प्रदान करने में कवि की व्यक्तिगत रुचि एवं प्रवृत्ति का विशेष हाथ रहता है। कवि जिस समाज अथवा वातावरण में रहता है, उससे स्वयं प्रभावित होकर उसे प्रभावित भी करता है। जिससे काव्यगत सौन्दर्य का मूल्यांकन करने में तत्कालीन सामाजिक प्रवृत्तियों का विशेष हाथ रहता है, जिनके बीच उसकी रचना होती है। किसी भी देश के श्रेष्ठ काव्यों का अध्ययन करके वहाँ की सामाजिक प्रवृत्तियों का विकास सरलतापूर्वक जाना जा सकता है, क्योंकि 'कविता जीवन की मनोरंजिनी व्याख्या है। कवि पदार्थों के सौन्दर्य पक्ष तथा अध्यात्म पक्ष को ग्रहण कर अपने काव्य में निबद्ध करता है। पदार्थों का हमारे जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है तथा हम किस प्रकार उस प्रभाव को व्यक्त करते हैं इसका स्पष्टीकरण काव्य के द्वारा होता है'।[3] काव्य के तत्त्व सर्वदेशीय एवं सर्वकालिक होते हैं, अन्तर केवल उन्हें देखने तथा उनसे प्रभाव ग्रहण करने

१—काव्य में प्राकृतिक दृश्य (लेख सं०—पं० रामचन्द्र शुक्ल)

२—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी-रोमांटिक साहित्य शास्त्र की भूमिका, पृ० सं० पृ० ५

३—भारतीय साहित्य शास्त्र-बलदेव प्रसाद उपाध्याय प्र० स० पृ० ४७८।

में ही होता है जिसपर समाज के बदलते हुए मूल्यों तथा रुचि एवं प्रवृत्ति में आने वाले परिवर्तनों का ही मुख्य हाथ रहता है जो निरन्तर काव्य की प्रवहमान धारा को प्रवाहित करते रहते हैं।

काव्यकला अपना भाव सभी श्रेष्ठ कलाओं से ग्रहण करती है जिससे काव्यकला पर अनजाने ही चित्र, मूर्ति एवं संगीतकला का प्रभाव पड़ता रहता है क्योंकि सभी अपने-अपने ढंग से अपनी सीमाओं एवं शक्ति के बीच तत्कालीन संस्कृति, सभ्यता एवं सामाजिक मनोवृत्तियो को ही व्यक्त करती हैं। भारतीय समाज के अन्तर्गत जैसे-जैसे मंडन कला के प्रति आकर्षण बढ़ने लगा जैसे-जैसे उसमें निखार एवं कलात्मकता आती गई वैसे-वैसे उसका प्रभाव चित्रकला, मूर्तिकला एवं संगीतकला पर पड़ता गया और सबका सम्यक प्रभाव काव्य कला पर भी पड़ा।

कला का उद्देश्य और जो कुछ भी हो उसका प्रधान उद्देश्य आनन्द अवश्य है। आनन्द का कोई स्वरूप नहीं होता और न उसे हम आँखों से देख ही सकते है। केवल हम उसका अनुभव करते हैं जिससे वह हमारे भावना लोक में ही आती है और पूर्णतः भावात्मक होती है। आनन्द की अवस्था में आये हुए अथवा आनन्द देने वाले भावों को अनुभव करने वाला व्यक्ति चाहता है कि 'जिस आनन्द की मूर्ति नहीं बनी है, उसका अवश्य ही सृजन होना चाहिये। वह स्वरूप आकृति में परिणत किया जाना चाहिये। गायक के आनन्द का दर्शन हमें गीत रूप में होता है और कवि के आनन्द का कविता रूप में। सृजन का कार्य करते हुए मनुष्य नाना प्रकार की आकृतियाँ निर्माण किया करता है। इन सबका प्रादुर्भाव निस्सीम आनन्द से होता है।[1] 'इस प्रकार हम देखते हैं, कला के जितने भी रूप हैं सभी एक ही भाव को प्रकट करने तथा स्वरूप प्रदान करने के साधन हैं जिसे आनन्द कहते हैं। ऐसी स्थिति में चित्र, मूर्ति तथा संगीत कला का काव्य कला से सम्बन्धित होना अनिवार्य है क्योंकि आनन्द की चरम अभिव्यक्ति काव्यकला के माध्यम से ही सम्भव हो पाती है।

चित्रकला और काव्य कला—

काव्य के अन्दर जिन भावों की अभिव्यक्ति होती है वे भाव कवि के मन में चित्र के रूप में ही आते हैं जिन्हें वह भाषा और छन्द के सहारे, स्वरूप, प्रदान करता है। भाषा और छन्द के विधायक तत्त्व अक्षर अथवा शब्द स्वयं भावमय चित्र हैं। चित्र और काव्य को एक दूसरे से अलग कर के समुचित देख पाना असम्भव है। प्रसिद्ध विद्वान 'होरेस और जोन्स' ने चित्रकला को काव्य के लिये अत्यन्त उपयोगी बतलाया है। उनके विचार से कविता मुखर चित्र और चित्र मौन कविता है[2]। मनुष्य के अन्तर्मन में जब भावों की परम्परा अवतरित होती है तो वह उसे प्रकट करने के लिये विवश करती है यदि वह व्यक्ति चित्रकार है तो सुन्दर चित्र खींचकर और यदि वह कवि है तो सुन्दर कविता रचकर अपने अनुभूत भावों को स्वरूप प्रदान कर सर्व संवेद्य बना देता है। ये अनुभूत भाव स्वतंत्र

१—मतिराम ग्रन्थावली की भूमिका प० कृष्णबिहारी मिश्र, तृ० सं० पृ० १८

2—"Poetry is a speeking picture and picture a a mute poetry"

रूप से मनुष्य के अन्तर्मन में आते हैं जो कला को छोड़कर अन्य किसी का अंकुश स्वीकार नही करते चाहे वह चित्रकला हो अथवा काव्यकला जिसका सहारा पाकर वे अमर हो पाते हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी स्वीकार किया है कि आनन्ददायक अमूर्त भावों को मूर्त रूप प्रदान करना अनुभव करने वाले व्यक्ति के लिये आवश्यक है। जब तक वह उन भावों को स्वरूप नहीं दे पाता वह चैन से एक क्षण बैठ नहीं सकता। कुशल चित्रकार की कूँची, चतुर शिल्पी की छेनी, प्रसिद्ध गायक के मधुर कंठ तथा सिद्धहस्त कवि की कवितायें ऐसे ही मोहक भावों की अभिव्यक्ति करती है[1]।

काव्य का मुख्य प्रयोजन आनन्द माना गया है और यह आनन्द साधारण आनन्द नहीं बल्कि लोकोत्तर होता है जिसकी प्राप्ति काव्य को छोड़कर अन्यत्र नहीं हो सकती। विद्वानो ने काव्य-हेतुओं का वर्णन करते समय स्वीकार किया है कि कवि व्यक्तिगत आनन्द, सामाजिक लोक-मंगल की भावना, यश और अर्थलाभ की कामना से प्रेरित होकर काव्य-रचना में संलग्न होता है। काव्य की सीमा के भीतर धार्मिक, सामाजिक, ऐतिहासिक तथा मानव जीवन सम्बन्धी सभी मार्मिक घटनायें सिमिट कर आ जाती हैं जिससे काव्य अथवा साहित्य एक प्रकार से किसी भी देश अथवा जाति के विकास क्रम का जीवित इतिहास है। आरम्भ में जिस प्रकार काव्य का प्रयोग धार्मिक कीर्तन तथा कथाओं को व्यक्त करने के लिये किया जाता था उसी प्रकार चित्रों के माध्यम से भी आराधना, उपासना आदि भावों की सृष्टि की जाती थी। किन्तु इसके अतिरिक्त चित्रकार की प्रेरक-शक्ति काव्य की भाँति व्यक्तिगत आनन्द, लोक-मंगल की भावना, यश तथा अर्थोपार्जन ही रही। जिसके माध्यम से भारतीय ऐतिहासिक दृश्यों का सरक्षण, मानव-जीवन की घटनाओं का चित्रण तथा सामाजिक प्रवृत्तियों के विकासक्रम का लेखा जोखा अक्षुण्ण रह सका। इसके अतिरिक्त चित्रों के माध्यम से प्रेम भावनाओं की अभिव्यक्ति, रसों के उद्दीपन तथा घरों के अलंकरण आदि की अद्भुत् व्यवस्था होती रही है।

इसमें सन्देह नहीं कि चित्रकला का इतिहास काव्य कला से भी प्राचीन है। मानव सभ्यता और भावों को अनुभव करने की शक्ति में ज्यों-ज्यों विकास हुआ त्यों-त्यों उसे प्रस्तुत करने के साधनों में भी वृद्धि हुई और काव्य कला को उसी का एक विकसित रूप कहा जा सकता है क्योंकि जिन भावों के संकेत हमें चित्रों को देखने से प्राप्त होते थे, वे ही भाव काव्यों द्वारा कानों से सुनकर जाने-जाने लगे। इस प्रकार चित्र और काव्य कला ने मिलकर आँखों और कानों की दूरी तय की है और यदि हम चाहें तो यह कह सकते हैं कि चित्र की मूकता को काव्य ने वाणी दी है। चित्र का उल्लेख हमें ऋग्वेद में प्राप्त हो जाता है जो हमारी अनेक कलाओं का आदिश्रोत है। ऋग्वेद : १।१४५ : में चमड़े पर बने अग्नि के चित्र की चर्चा है। इससे हमारी चित्रकला की परम्परा उस काल से प्रमाणित होती है। बुद्ध के समय में तो चित्रकला का इतना प्रचार था कि उन्हें अपने अनुयायियों को उसमें

1—"The joy which is without from must creat, must translate itself into forms The joy of the Singer is expressed in the form of poem. Man in his role of a creator is ever creating form and they come out of his a abounding joy." —Ravindra Nath Tagore.

न प्रवृत्त होने की आज्ञा देनी पड़ी। तीसरी चौथी शती ई० पू० के बौद्ध ग्रन्थों विनय-पिटक तथा थेर थेरी गाथा में चित्रों का उल्लेख है।[१] इससे चित्र की प्राचीनता तथा लोक प्रियता का अनुमान लगाया जा सकता है।

काव्य की सफलता मानव अनुभूत गहन भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति में है और चित्रों के माध्यम से भावों की जितनी सुन्दर एवं स्पष्ट व्यंजना हो सकी है, वैसी सुन्दर व्यंजना कुशल कवि भी करने में असमर्थ हो गये हैं। भाव प्रवणता भारतीय चित्रकारों की सबसे बड़ी विशेषता रही है। कालिदास ऐसे कुशल कवि भी भावों की अभिव्यक्ति के लिये चित्र का सहारा लेते है। उनके मेघदूत का विरही यक्ष 'मेघ' से कहता है कि जब तुम मेरी प्रिया के पास पहुँचोगे तो वह तुम्हें सम्भवतः मेरा भाव चित्र बनाती हुई मिलेगी। यहा भाव का तात्पर्य यह हुआ कि वह अपने बिछड़े हुये पति का स्मृति चित्र नही बना रही थी, बल्कि उसकी अन्तर्वृत्ति की पहुँच (गम) उसके अन्तर्मन की दृष्टि, उसकी कल्पना की उड़ान यक्ष की वियोग-जनित मानसिक और शारीरिक दशा तक थी और उसे ही वह अंकित कर रही थी[२]। गुप्तकालीन चित्रकला का प्रभाव तत्कालीन साहित्य पर स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। कालिदास की कृतियों मे चित्रकला को अत्यन्त सम्मानित स्थान दिया गया है। यों तो अजंता की कला सर्वथा मार्मिक है, किन्तु उसके विषय जितने व्यापक हैं आर चित्रकारों ने उन्हे जैसी सिद्धहस्तता से अंकित किया है उससे इस सम्बन्ध में कोई सन्देह नही रह जाता कि उन दिनों चित्रण का वस्तु (थीम) बहुत व्यापक था। कालिदास की रचनाओं से पता चलता है कि अधिकाश सुसंस्कृत स्त्री-पुरुष स्वयं चित्रण जानते थे। प्रेमी-प्रेमिका एक दूसरे का चित्र बनाते थे। चित्र देख कर विवाह सम्बन्ध पक्के होते थे। शयनागार चित्रित होत थे। जीवन की घटनाओं, ऐतिहासिक घटनाओं और मृत राजा के चित्र अंकित होते थे। रघुवंश में उजड़ी अयोध्यापुरी के वर्णन में वहाँ के भित्त-चित्रों में का एक दृश्य दिया है कि हाथी पद्म-वन में है और उनकी हथिनियाँ उन्हें मृणाल तोड़कर दे रही है[३]। अलंकरण की जो प्रवृत्ति गुप्तकालीन कविताओं में देखी जाती है उसके प्रभाव हमें समस्त कला अंगो में दिखाई पड़ते हैं। सोने के जो सिक्के प्राप्त हुये हैं उन पर उनकी मूर्तियों का तथा उनके जीवन की घटनाओं एवं उनके आराध्य देवताओं का बड़ा जीवन्त तथा कलापूर्ण अंकन मिलता है। इनसे बढ़कर भारतीय सिक्के यदि मिलते हैं तो बहुत कुछ अकबर और जहाँगीर के अलंकृत सिक्के ही। गुप्तकालीन काव्यकला के विकास के साथ ही साथ चित्रकला का भी विकास हुआ है जिसे हम बहुत कुछ शृंखला रूप में प्राप्त कर सकते है। 'भवभूति' की अमर रचना उत्तर रामचरित इसी काल के अन्तर्गत आती है जिसका कथा प्रसंग चित्रों से ही आरम्भ होता है। अष्टावक्र ऋषि आकर रामचन्द्र जी से बातें कर ही रहे थे कि लक्ष्मण जी आकर सूचना देते हैं कि आज्ञानुसार चित्रकार ने आपके चरित इस भीत के ऊपरी भाग पर उरेहे हैं उन्हें आर्य चल कर देखें जिसमें सभी क्रमशः राम के किष्किन्धा पहुँचने तक के चित्रों की छटा देखते हैं और उनके हृदय में प्रसंगानुकूल भाँति भाँति के भावों की क्रिया एवं प्रति-

---

१—भारत की चित्रकला—रायकृष्णदास, प्र० सं० पृ० ४-५।

२—भारत की चित्रकला—रायकृष्णदास, प्र० सं० पृ० ७।

३—वही, पृ० ३६।

क्रिया होने लगती है। यह सुन्दर लम्बा प्रसंग जीवन की घटनाओं के संरक्षण के लिये ही बनाया गया था जो कार्य काव्य तथा चित्रकला अपने-अपने ढंग से कभी अलग रह कर और कभी मिलकर सम्पन्न करती हैं।

हर्षचरित कार ने भी लिखा है कि राजा को जो भेंट दिये जाते थे उनमें चित्रण की सामग्रियाँ भी होती थीं जिससे स्पष्ट हो जाता है कि काव्य कला और चित्रकला समान रूप से दरबारों के लिये आनन्द एवं मनोरंजन की वस्तुये थी जो अलंकृत काव्य का प्रधान गुण धर्म है। जैसा पूर्व ही कहा जा चुका है कि कलाओं की उन्नति एवं विकास के लिये राज्य दरबार ही सर्वोत्तम स्थान है। जिस प्रकार मुगल दरबारों में अलंकृत काव्य की पुनरावृत्ति हुई उसी प्रकार चित्र-कला को भी नवजीवन मिला कि वह साहित्य का आँचल पकड़कर चल सके। सम्राट अकबर ने कलाओं को अत्यधिक प्रोत्साहन दिया जिससे अनेक उत्कृष्ट कृतियाँ तैयार हुईं। उसकी प्रेरणा से फारसी साहित्य की गद्य और पद्यमय रचनायें चित्रित हुईं। जिससे इन दोनों कलाओं का एक दूसरे पर सम्यक दृष्टि से प्रभाव पड़ा। चित्रों को कविताओं में और कविताओं को चित्रों में बदलना मुगलकालीन भारत में एक अलग कला ही बन गयी थी।[1]

मुगलकालीन चित्रों का तत्कालीन कविताओं पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा इसका मुख्य कारण मुगल सम्राटों की चित्रकला प्रियता ही थी। जहाँगीर को चित्रकला का तो इतना ज्ञान था कि चित्र देखकर वह चित्रकार का नाम तक बता देता था। रंगों का ज्ञान तो इस काल के चित्रों में उस प्रौढ़ता को पहुँच गया था जितना कभी भी नहीं था। किस स्थान पर कौन सा और कितना रंग लगाने पर सौन्दर्य बढ़ेगा इसका पूर्ण ज्ञान चित्रकारों को था। वे जहाँ-जहाँ जो-जो रंग अपेक्षित होता है उसे दो-दो तीन-तीन बार लगाते थे इसे गदकारी कहते थे। इससे ओज के सिवा दबाजत भी आ जाती है और चित्र मीनाकारी जैसा जान पड़ता है तब रूपरेखा (सरहद) से आकार और अंग-प्रत्यंग का निर्णय करते थे। इसे खुलाई कहते हैं। साथ ही जहाँ छाया व सौन्दर्यवर्धक रंग लगाने की आवश्यकता रहती है: जैसे आँखों के क्रोये में रतनारापन उसे भी लगाते जाते थे। उस समय के प्रचलित सभी आभूषण एवं श्रृंगार प्रसाधनों को यदि हम चाहें तो मुगलकालीन स्त्रियों के चित्रों में देख सकते हैं और उन्हीं स्त्री चित्रों को बिहारी तथा मतिराम आदि कवियों ने नायिकाओं की सुषमा में उतारा है। बिहारी न तो अपनी नायिका का चित्र ही उतार पाते हैं और न तो उनकी नाइन नायिका के पावों में महावर लगाने में ही समर्थ हो पाती है। बिहारी यदि अपनी नायिका के मस्तक पर लाल बिन्दी लगाकर उसकी शोभा 'अगणित' करते दिखलाई देते हैं तो 'मतिराम' की नायिका बंदनतिलक लिलार में दीप की जगमगाती ज्योति ही हो गई है। इसके अतिरिक्त नायिका के नाजुक शरीर की नाप खोज जो मध्यकालीन हिन्दी कविता में

१—फारसी की गद्य और पद्य रचनायें चित्रित की गई। इस प्रकार के चित्रों की संख्या बहुत बढ़ गई। हम्जा के किस्से के चित्र बारह जिल्दों में तैयार हुये। चतुर चितेरो ने उसमें के चौदह सौ प्रसंगों के अद्भुत चित्र तैयार किये। चंगेज नामा, जफरनामा, आइन अकबरी, रज्मनामा, महाभारत, रामायण, नलदमन इत्यादि भी चित्रित किये गये।

भारत की चित्रकला, रायकृष्णदास प्र० सं० पृ० १२२।

प्रधान रूप से पायी जाती है उसके मूल में भी मुगलकालीन चित्रों का ही प्रभाव है। जितने भी नारी चित्र इस युग के मिलेंगे सबकी नयन-भंगिमा और कटि का क्षीण होना उनमें अवश्य ही सावधानी के साथ दिखलाया गया होगा। यही कारण है कि इस काल के सिद्ध कवि अपनी काव्य कला को इससे ऊपर न उठा सके। उनकी आँखे इन चित्रों में चौंधिया गईं और वे जन-जीवन की समस्याओं को अपने काव्य का विषय बना ही न सके। सारी की सारी उनकी कल्पना कविताओं में नायिकाओं का चित्र इसलिये खींचती रहीं कि वे अपनी रचनाओं द्वारा चित्रकार को मात देकर दरबारों में अपनी धाक जमा सकें।[1]

चित्र और काव्य दोनों कलाओं को कल्पना ही आगे बढ़ाती रहती है। नारी काव्य की आदि शक्ति है जिसके सुन्दरतम स्वरूप की कल्पना हम उर्वसी के नाम से करते हैं। रवीन्द्र नाथ ठाकुर के अनुसार 'नारायण ऋषि' सबसे पहले चित्रकार थे जिन्होंने तप भ्रष्ट करने के लिये आयी हुई अप्सराओं को लज्जित करने के लिये अपनी जाँघ पर एक नायिका का सर्वोत्तम चित्र बनाकर उसे उर्वसी का नाम दिया जो अन्यतम सौन्दर्य की प्रतीक बनकर भारतीय इतिहास में एक अप्सरा के नाम से विख्यात है। इस प्रकार निरन्तर चित्रकला काव्यकला को प्रभावित करती रही है और अलंकृत काव्यों में मंडन की प्रवृत्ति तो मूलतः चित्रकला की ही देन है।

मूर्तिकला और काव्यकला—

प्रत्यक्ष आदान-प्रदान को छोड़कर मानव ने सर्वप्रथम अपने भावो को जिस कला द्वारा व्यक्त कर के आगे आनेवाली पीढ़ी के लिये ऐतिहासिक विकासक्रम को अक्षुण्ण रखा है, वह है मूर्ति अथवा शिल्पकला। शिल्पकला शब्द का प्रयोग अधिक व्यापक रूप में किया जाता है जिसके अन्दर महल-निर्माण आदि सभी आ जाते हैं किन्तु मूर्तिकला उसी का एक अत्यन्त सुन्दर एवं मार्मिक अंग है जिसमें मानव की गहनतम अमूर्त भावनायें मूर्त हो उठती हैं। किसी भी कलाकार के स्वकीय आभिजात्य का परिचय उसकी मूर्ति, चित्र अथवा काव्य कलाओं से ही मिलता है। स्वार्थ और अज्ञान के घने अन्धकार में भी हम अन्तःकरण में जिस आलोक को देखते हैं साहित्य और शिल्प उसी की घटनायें हैं, उससे बाहर का अन्ध-कार दूर हो सकता है, दुःख भले ही न दूर हो। इसमें केवल सजग साधकोचित मनोभाव चाहिये, एकाग्रता और सत्यनिष्ठा चाहिये। ठीक भाव से स्वधर्म का अनुसरण करने से ही साहित्य और शिल्पी समाज के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन कर देते हैं[2]। जिस काल में मानव को शब्द, छन्द एवं उसे सुरक्षित रखने के साधनों का वरदान नहीं मिला था तभी से मूर्तिकला मानवता की सेवा करती आ रही है। प्राचीनकाल की भारतीय

१—लिखनि बैठि जाकी सबहि, लहि-लहि गर्व गरूर।
भये न केते जगत के चतुर चितेरे क्रूर॥ : बिहारी :
पाय महावर दैन को, नाइन बैठी आय।
फिरि-फिरि जानि महावरी, ऐड़ी मीड़ति जाय॥ : बिहारी :
बंदन तिलक लिलार में, ऐसी मुख छबि होति।
रूप भौन में जगमगे, मनो दीप की जोति॥ : मतिराम :

२—शिल्प कथा—नन्दलाल वसु—प्र० सं० पृ० २४।

संस्कृति, सभ्यता तथा सामाजिक मनोभाव पत्थरों में खुदी हुई कुछ उभड़ी-दबी मूर्तियों में सुरक्षित है। मूर्तिकला का जो सर्वप्रथम आदर्श हमारे सम्मुख मिलता है वह देवालयो की दीवारों तथा पर्वतों की गुफाओं के शिलापट्टों पर ही, जिसे भित्ति-कला कहना अधिक समीचीन होगा। आगे चलकर उसी का मूर्तिकला के रूप में विकास हुआ है।

भारत की प्राचीन सस्कृति एवं सभ्यता गुफाओं, पर्वत की शिलाओं, स्मारकों तथा धर्मस्तूपों में सुरक्षित रही है जिसे विदेशियों के आक्रमण ओर अत्याचार नहीं मिटा पाये। आज भी विश्व के समक्ष जो हमारी सभ्यता को प्राचीनतम होने का गर्व है अथवा ग्रीक ऐसी प्राचीनतम कही जाने वाली सभ्यता के सम्मुख जो वह मस्तक ऊँचा करके खड़ी होती है, उसका एकमात्र श्रेय मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के खण्डहर तथा अजन्ता और एलोरा की गुफाएँ हैं जिनके कारण हम अपनी प्राचीन संस्कृति तथा सामाजिक मनोवृत्ति व सभ्यता का इतिहास जान सकते हैं। इनके कागज जीर्ण होकर न तो फट पाये हैं और न इनकी स्याही की चमक ही मंद पड़ी है। ऊँची-नीची और ऊबड़-खाबड़ रेखाओं में भारतीय इतिहास अक्षुण्ण है। इतिहासकारों ने इनके आधार पर कल्पनाये कीं तथा काव्यकार अथवा नर्तकों ने साधना के बल पर उन्हें अपनी कला में निखारा। नृत्य अथवा भाव को प्रदर्शित करने वाली मूर्तियों के आधार पर आज भी नर्तन कलाकार प्राचीन शास्त्रीय पद्धति का अभ्यास करते हैं। सभ्यता छलांग मारकर इतने आगे बढ़ गयी किन्तु पत्थरों में खुदी तथा कटी स्वस्थ, सजीव, मोहक एवं नंगी मूर्तियाँ आज भी समाज को उसी प्रकार आकर्षित कर रही हैं जैसी अपने निर्माण काल में करती रहीं। उस समय तत्कालीन सामाजिक प्रेरणा से अभिभूत होकर शिल्पी ने यदि पत्थरों में जान डाल दी तो आज की सामाजिक रुचि भी उन पर मुग्ध है। मानव-सुलभ प्रवृत्तियों की स्वस्थ अभिव्यक्ति करने वाले कवि एवं साहित्यकार आज भी जो मानव और प्रकृति को एक साथ देखने का स्वर बुलन्द कर रहे हैं, उसके मूल में भी मूर्तियों के रूप में अंकित मानव का असली स्वरूप है। परिस्थितियों के बदल जाने तथा सभ्यता नामक बोझ से लदे होने के कारण भले ही ऐसे साहित्यिक प्रसंगों को अश्लील कह कर हम टाल देना चाहें किन्तु उनकी स्वाभाविक सुषमा एवं आकर्षण को हम ठुकरा नहीं सकते। वे प्राचीन मूर्तियाँ जो युग-युग तक काव्यकला को प्रभावित करती रही हैं मानव की अनेक मानस ग्रंथियों का समाधान प्रस्तुत करती हैं जिसे तत्कालीन समाज ने अपने प्रकृत रूप में सुलझा लिया था। काव्य में चित्र भाषा शैली तथा एक निश्चित अलंकार योजना मूर्ति एवं चित्रकला की ही देन है।

ऐसे कुछ लोग मिल सकते हैं जो मूर्तिकला को विलासी और धनिकों की वस्तु मानते हों जिससे मानव के दैनिक जीवन में उसका महत्त्व उनके लिये नहीं के बराबर हो किन्तु यदि चाहें तो वे काव्यकला पर भी यह आरोप लगा सकते हैं। जिन्हें मूर्तिकला में स्थिरता दिखलाई पड़ती है वे भूल जाते हैं कि वह स्थिरता कला की नहीं बल्कि उस समाज की है जिसकी रुचियों एवं प्रवृत्तियों को व्यक्त करने के लिये कला की सृष्टि हुई है। यदि समाज में प्रगति के भाव होंगे तो निश्चित ही उसकी छाया कलाओं पर पड़ेगी क्योंकि उसे छोड़कर वे जी नहीं सकतीं और यदि वह स्थिरता बँधी नदी की धारा की भाँति है, स्वच्छन्द प्रवाह के समान नहीं तो निश्चित ही कला एक ही भाव की पुनरावृत्ति होगी। जिस नदी में धार

कम होती है वह सिवार के व्यूह जमा कर लेती है, उसका आगे का पथ रुद्ध हो जाता है। ऐसे बहुतेरे साहित्यिक शिल्पी हैं जो अपने अभ्यास और मुद्रा-भंगिमा के द्वारा अपनी अचल सीमा बना लेते हैं। उनके काम में प्रशंसा के योग्य गुण हो सकते हैं, मगर ये मोड़ नहीं घूमते, आगे नहीं बढ़ना चाहते, निरन्तर अपनी अनुकृति स्वयं ही करते हैं, अपने ही किये कामों से निरन्तर चोरी करते हैं।[1] किन्तु ऐसी स्थिति सदैव नही होती। मूर्ति-कला में यदि स्थिरता है तो उसमें प्रगति के चिह्न भी है यदि, वह विलासी जीवन की देन है तो दीनों की वेदना को व्यक्त करने की उसमें अपूर्व शक्ति भी है।

सौन्दर्य ही शिल्प का प्राण है केवल आर्थिक दृष्टिकोण से ही इस पर विचार नहीं किया जा सकता। धन और सभ्यता से दूर गरीब सथाल भी अपने मिट्टी के घरो को लीपकर मिट्टी के बर्तनों और फटी गुदड़ियो को संभाल कर रखता है। दीन खेतिहर कहलाने वाला किसान तथा जानवरों के पीछे जंगलों में भटकने वाला चरवाहा भी अपनी परेशानियों में से कोई न कोई क्षण निकाल कर कजली या बिरहा की मस्त धुन में टेर लगाकर अपनी प्रिया से मिलन तथा उसे प्रसन्न करने के लिये गा उठता है और ये ही वे स्थान है जहाँ पर कला की परम्परा अपने आप उतरने लगती हैं। सच्ची अनुभूति, अभिव्यक्ति के लिये भावों में मूर्त रूप में ही आती है जिसे कवि अपनी कविताओं में, चित्रकार अपने चित्रों मे तथा शिल्पी उसे अपनी मूर्तियों में संवार तथा संजोकर उतारता है।

भारतीय मूर्तिकला ने उन ऐसे भारतीय ऐतिहासिक महाकाव्यो, नाटकों तथा अख्यानक गीतों को तो पूर्णतः प्रेरणा दी है जिनके नायक-नायिकाये, वेशभूषा तथा आचार-विचार या तो लिखित इतिहास के पन्नों पर आये नहीं अथवा मिलते नही। कालिदास तथा वाणभट्ट की रचनाओ को प्रमाण स्वरूप देख सकते है। 'भवभूति' कृत उत्तररामचरित तो भित्ति-चित्रों के माध्यम से लिखा ही गया है। आज भी समस्त ऐतिहासिक सामग्रियों की मूल स्रोत भारत की शिल्प तथा भित्तिकलाये ही है। मूर्तियो की वेषभूषा तथा भावभंगिमा काव्य कला के वास्तविक सौन्दर्य को विकसित करने का आज भी अवसर प्रदान कर रही हैं। जैसा हमने ऊपर कहा है कि आगे चलकर मूर्तियों का विकास चित्रो में हुआ जिसने समस्त दरबारी साहित्य को प्रेरणा दी है। जहाँ से काव्यकला और शिल्पकला का साथ हुआ है वहाँ से यह कहना कठिन है कि किसने किसको प्रभावित किया है और किसने किसको नहीं किया क्योंकि शिल्पी और कवि दोनों समानधर्मी होते हैं, अन्तर केवल उनके प्रस्तुत करने के ढंग में है। साधना दोनों की पूज्य भूमि है।

नृत्य, संगीत और काव्य—

काव्यकला का विकास नृत्य और संगीत कला के पश्चात् हुआ अथवा यों कहा जा सकता है कि सभी ललित कलाओं से नृत्य और संगीत कला प्राचीन है। मानव जब सभ्यता के प्रथम चरण में प्रवेश नही कर पाया था तो वह अपने भावों तथा सुखद अनुभूतियों को संगीत एवं नृत्य के माध्यम से ही प्रकट करता था। संगीत और नृत्य एक ही कला के दो रूप हैं। वाणी जिन भावों को व्यक्त करने में असमर्थ हो जाती है, उन्हीं भावों को कुशल

१—रवीन्द्रनाथ ठाकुर-भूमिका भाग-शिलपकथा-नन्दलाल बसु।

नृत्यकार अपने नृत्य से प्रकट कर देता है तथा नर्तक की असफलता सफल संगीतज्ञ के द्वारा सफलता में परिणत हो जाती है। भारत की मूर्ति एवं चित्र कला के माध्यम से वे ही दृश्य अथवा भाव-भंगिमाये पत्थरो एवं कागजों पर सुरक्षित हैं जिन्हें आनन्द विभोर होकर देशवासियों ने अपने आराध्य देवता तथा प्रेमी-प्रेमिकाओं को लुभाने के लिये नृत्य और गायन में उतारा था तथा जिनकी सुषमा को निरन्तर गाने वाला भारतीय काव्य आज तक भी नही गा पाया है।

सभी कलाओ का लक्ष्य एक ही होता है। कविता, मूर्ति, चित्र नृत्य और गान सभी सर्जन के मूल आनन्द के छन्द को अपनी शक्ति भर पकड़ना चाहते है। कुछ लोग यह कह सकते हैं कि सगीत और नृत्य केवल मनोविनोद के ही साधन हैं। उनमें सामाजिक समस्याओं का समाधन नहीं ढूँढ़ा जा सकता जैसा कि काव्य के द्वारा सम्भव है। कला तो कला ही है। यदि संगीत और नृत्य से पेट नही भर सकता तो काव्यकला भी भूखे मानव की क्षुधा को शान्त नहीं कर सकती। यहाँ एक बात याद रखनी आवश्यक है कि जिस प्रकार आनन्द तथा ज्ञान पक्ष और धन प्राप्ति काव्य चर्चा के दो प्रधान पक्ष हैं जिनमें एक से आनन्द और दूसरे से धन की प्राप्ति होती है उसी प्रकार संगीत और नृत्य कला के भी दो पक्ष हैं जिन्हे हम आनन्द और अर्थप्राप्ति के लिये प्रयुक्त किये गये रूप में स्वीकार कर सकते हैं। आनन्द के लिये संगीत और नृत्य का प्रयोग हमारे दैनिक दुःख द्वन्द से संकुचित मन को आनन्द लोक में मुक्ति देता है और अर्थ के लिये प्रयुक्त होने पर वह हमारे नित्य प्रयोजन की वस्तुओं को सौन्दर्य के सुनहरे स्पर्श द्वारा न केवल हमारी जीवन-यात्रा पथ को सुन्दर बना देता है बल्कि अर्थागम के लिये भी रास्ता बना देता है।

कला की सार्वभौमता निर्विवाद है। 'उपनिषद् में कहा गया है' आनन्द से ही सारे संसार की उत्पत्ति हुई है। वह आनन्द सारे दुःख-सुखों को लेकर भी दुःख-सुख से परे है। कलाकार भी सृजन करता है सृजन के आनन्द में।[१] संगीत अथवा नृत्य, काव्यकला की भाँति सृजन की कोटि में आते हैं अथवा नही तथा काव्य-कला उससे प्रभावित होती है अथवा नही इसका भी उत्तर उसी से प्राप्त किया जा सकता है। आनन्द से अगर किसी भी चित्र अथवा मूर्ति की अभिव्यक्ति होगी तो वह अवश्य ही दूसरों को भी आनन्द का स्वाद देगी। हृदय के गहन भावो की निश्छल अभिव्यक्ति जब सगीत अथवा नृत्य के माध्यम से होती है तो वह अत्यन्त प्राणवान होकर कला का रूप धारण करती है, जिसका नाश नहीं होता, वह अगर सच्ची होती है। अजन्ता और एलोरा की मूर्तियाँ इन्हीं अमर भावो को व्यक्त करने के कारण अमर हैं। यदि आज वे नष्ट भी हो जायँ तो भी वास्तव में वे नष्ट नहीं हो सकतीं। कारण यह कि रसिकों के चित्त में नष्ट होने पर भी वे अमर बनी रहेंगी। अगर एक भी कलाकार अथवा कवि ने उन्हें देखा तो उनकी कलाकारिता, उनकी सजीव भाव-भंगिमा तथा उनकी मूक-वाणी उसे विह्वल किये रहेगी। नाना प्रकार से वह अपनी मूर्तियों अथवा कविताओं में उन्हें सजीव करने का प्रयत्न करता रहेगा।

भारत वर्ष की समस्त ललित कलाओं का मूलस्रोत धर्म है जिनका उपयोग पूजा तथा देवाराधना आदि धार्मिक प्रसंगों के लिये होता रहा है। नृत्य एक कला है जिसके द्वारा

१—शिल्प कथा—नन्दलाल वसु प्र० सं० पृ० ३३।

नर्तक अपनी गहनतम अनुभूतियों की अभिव्यक्ति करता है। धार्मिक पूजन-स्तुति के माध्यम से उसके अंग स्वरूप यह कला स्मारक रूप में अक्षुण्ण है।[1] इसका आदिम रूप प्राचीन इजिप्ट तथा ग्रीस के धार्मिक रूपों में ऐसा घुलमिल गया है कि उन्हें अलग किया ही नहीं जा सकता। नर्तक, नर्तकियों तथा नृत्यों के माध्यम से भारतीय कला के संगीत, नृत्य, चित्र, साहित्य, सत्कार तथा अन्य आकर्षक तत्त्व जीवित रह सके हैं। भारत के प्रत्येक मंदिरो में देव-दासियों तथा नर्तकियों की व्यवस्था थी जो नृत्य तथा संगीत से मंदिर में प्रतिष्ठित देवी-देवताओं को रिझाती थीं। बाद में चलकर इनका पतन हो गया जिससे वे देवी-देवताओं के स्थान पर पंडों-पुजारियों के रिझाने की वस्तु बन गयीं और आज की वेश्यायें उन्हीं के विकृत स्वरूप हैं। संस्कृत में लिखे महाकाव्य इसके प्रमाण हैं कि दरबारों में इन नर्तकियों का भी काफी सम्मान था। कालिदास के नाटक 'विक्रमोर्वशी' का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ही मानव का वह प्रेम है जिसकी अपार शक्ति अपूर्व नर्तकी अप्सरा उर्वशी को भी अभिभूत कर देती है।

उर्वशी यद्यपि एक कल्पना है किन्तु कालिदास ने नाटक में उसे उतार कर तत्कालीन समाज की रुचि एवं उसकी कलाप्रियता तथा नर्तकियों के समादर का परिचय तो दे ही दिया है। अर्द्ध नारी और अर्द्ध गंधर्वी उर्वशी की न तो कोई माता है और न तो उसका कोई पिता और न तो वह किसी की पत्नी ही हो सकी। वह लताहीन विकसित पुष्प की भाँति है जो स्वतन्त्र उत्पन्न हुई थी। स्वर्ग और मर्त्य दोनों लोक के जीव उसे प्यार करते हैं। वह कल्पना की उत्पत्ति और कुछ नहीं केवल कला है। वह नारी सौन्दर्य का आदर्श है जो धन वैभव द्वारा प्राप्त की जा सकती है जिसे कालिदास के 'पुरूरवा' ने प्राप्त किया था। राज-दरबारों में संगीतज्ञ तथा नर्तक शोभा के प्रधान अंग थे। सम्राट तथा राजकुमारियों के वे शिक्षक तक के आसन पर आसीन थे। महाराज उदयन तथा सम्राट समुद्रगुप्त के वीणावादन की प्रशस्ति आज भी भारतीय इतिहास में अक्षुण्ण है। काव्य का गीत तत्त्व ही उसे साहित्य के अन्य तत्त्वों से अलग कर मोहक बनाता है। मुख्यतः नाटकों के गीतो में तो संगीतो एवं भाव नृत्यों का एक छत्र साम्राज्य रहा है।

जब जब देश में अन्य कलाओं का अकाल पड़ा तब तब उनकी रक्षा गीतों के माध्यम से हुई है। दरबारी सभ्यता के ह्रास काल में तथा कला के असम्मान काल में भी विद्यापति, जयदेव, मीरा तथा सूर ऐसे भक्त कवियों की वीणा जागरूक रही। कौन कह सकता है कि इन महापुरुषों के कंठों से फूटी मधुर रागिनी हमारे हिन्दी साहित्य की अक्षय निधियाँ नहीं है। इसका विकास लोक-जीवन से लेकर दरबारों तक निरन्तर होता रहा है। यदि दरबारो की सजावट में कोमल कंठो की मधुर रागिनी तथा नूपुरो की झनकार मादकता उत्पन्न करते रहे हैं तो नगरों से बहुत दूर पहाड़ों झरनों तथा जंगलों के बीच चरवाहों तथा रोजी के लिये भटकने वाले कारवों की दर्दीली रागिनी अपने प्रेमो-प्रेमिकाओं के लिये गूँजती

१—Dancing is an art of expressing ones intense feelings. It has remained in this country since time immemortal as a Part of religious worship.

(Lures of India Santosh Kumar chatterjee—April 1954)

रही है तथा बेतालसुर पर नाचने वाले माँझी और आभीरों के कानों पर हाथ रखकर टेरे गये बिरहे आज भी हमारे काव्य गीतों के लिये ईर्ष्या की वस्तुयें हैं।

मुगलकालीन भारत में प्राचीन भारतीय नृत्यकला का वह स्तर तो नहीं दिखाई पड़ता किन्तु संगीत को आशातीत सफलता मिली है। प्रेम जीवन की मूल गति है जिसकी अभिव्यक्ति गीतों में होती है चाहे वह लौकिक हो अथवा अलौकिक। कबीर से लेकर मीरा तक अथवा उनके पहले भक्त कवियो का काव्य और कुछ नहीं केवल उनके हृदय का सगीत है। बहुत ऐसे महापुरुष जिन्हें हम केवल संगीतज्ञ के रूप में जानते हैं, अच्छे कवि भी थे। अकबरी दरबार का प्रसिद्ध गायक तानसेन अपनी ही रचनाओं को वीणा के स्वर पर साधता था। कहा जाता है कि आचार्य कवि केशव की रामचन्द्रिका में उद्धृत जनकपुर में गायी गई गालियाँ उनकी शिष्या एवं प्रसिद्ध नर्तकी 'प्रवीण राय' द्वारा रची गयी हैं, जिसने अकबर जैसे शक्तिशाली सम्राट का आमन्त्रण भी ठुकरा दिया था। कविता-छन्दो के रूपों में लाने वाले परिवर्तनों के कारण संगीत तत्त्व ही है। एकशब्द में यह कहा जा सकता है कि काव्य से संगीत तत्त्व के निकाल देने से गद्य और पद्य का भेद ही समाप्त हो जायगा। नृत्य तथा संगीत की स्वाभाविकता पर जैसे-जैसे अलंकार की अस्वाभाविकता आने लगी है वैसे ही वैसे उसने काव्य-रूपों को भी प्रभावित किया है।

काव्य-कला पर समन्वित प्रभाव—

सम्पूर्ण कलाओं का समन्वित प्रभाव यदि कहीं एक स्थान पर सम्भव हो सकता है तो वह है काव्य कला जो मानव सभ्यता, रुचि, कलाप्रियता तथा सामाजिक आचार-विचारों के साथ विकसित होती रही। सर्वप्रथम कवि के मन में भाव उसी प्रकार आते हैं जैसे चित्र-कार के मन में मूर्ति, नर्तक के मन में भंगिमा तथा संगीतज्ञ के मन में हाव। मनुष्य ने आनन्द पाने और ज्ञान अनुशीलन करने के लिये जितने प्रकार के उपायों का उद्भावन किया है उनमें भाषा का प्रथम स्थान है।

साहित्य-दर्शन-विज्ञान आदि सभी विषयों की चर्चा का माध्यम भाषा ही है। काव्य से मनुष्य को आनन्द मिलता है किन्तु उसकी शक्ति सीमित है जिसके विस्तार का कार्य तथा अभाव की पूर्ति रूप-शिल्प, संगीत, नृत्य तथा अन्य कलाये करती हैं। जिस प्रकार साहित्य की एक निज स्वप्रकाश भंगिमा होती है उसी प्रकार रूप-शील, संगीत तथा नृत्य का भी मनुष्य इन्द्रियों से, मन से, बाहरी संसार की वस्तुओं का तत्त्व बोध एवं रस बोध का उत्कर्ष साधित होता है और शिल्प की प्रकाश-भंगिमा भी आयत होती है। आँख का काम जिस प्रकार कानों से नहीं होता उसी प्रकार चित्र, संगीत और नृत्य की शिक्षा, शिक्षा-दीक्षा से सम्भव नहीं। सारी की सारी कलाये मानव मन में स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न होती हैं जिन्हें कलाकार का अभ्यास स्वरूप प्रदान करता है। एक मूल स्रोत के होते हुए भी जो उनमें अनेकरूपता है उसके मूल में प्रस्तुत करने का ढंग तथा सामाजिक प्रवृत्तियाँ है। भारतवर्ष में लम्बे काले केश तथा काली पुतली अच्छी कही जाती है किन्तु योरोप के लोग तो नीली पुतलियों एवं सुनहले केशों पर ही मुग्ध हैं। भारतीय नायिका की लम्बी पतली अँगुलियाँ चीनी स्त्री के लिये शोभावर्द्धक नहीं कही जा सकतीं। कलाकार की ये ही सीमायें हैं जो

उसकी कला में परिवर्तन लाती हैं। सभ्यता के विकास के साथ-साथ प्रत्येक वस्तु के देखने का दृष्टिकोण भी बदलता है जिससे कला-रूपों का बदलना अनिवार्य हो जाता है किन्तु इस बदले हुए मानदंड का प्रभाव मानव जीवन से सम्बन्धित सभी कलाओं पर समान रूप से पड़ता है जिससे समस्त भारतीय इतिहास को सामने रखकर हम स्पष्टतः यह निर्णय कर सकते हैं कि जिस प्रकार एक के बाद दूसरी कला का जन्म तथा विकास हुआ है उसी प्रकार एवं उसी क्रम से सामाजिक प्रवृत्तियों का भी एक दूसरे पर प्रभाव पड़ा है। समाज में दरबारी सभ्यता एवं राजसी वातावरणों के महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेने-पर कलात्मकता, अलंकारिकता तथा मंडन की प्रवृत्ति का जो विकास हुआ उसने समान रूप से भारत की सभी कलाओं एवं कला कृतियों को प्रभावित किया है।

कामकला और काव्यकला—

जिस दरबारी सभ्यता द्वारा निर्मित सामाजिक प्रवृत्ति की चर्चा हम ऊपर कर आये हैं उससे प्रेरणा प्राप्त कर जिस काव्यकला का विकास हुआ उसमें स्त्रियों के विलास की लीलाओं, नायक-नायिकाओ के संयोग-वियोग तथा उत्तेजक शृंगार को ही महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है और इसमें सन्देह नहीं कि ऐसी कविताओं पर वात्स्यायन के 'कामसूत्र' का अविच्छिन्न रूप से प्रभाव पड़ा है। विद्वानों का मत है कि जिन काव्यों में स्त्रियों के विलास की लीलाएँ कविता के स्वरूप में दिखलाई हो और उनमें शृंगार की प्रधानता के साथ-साथ नायक-नायिकाओं के संयोग-वियोग का ही प्रमुख रूप से प्रतिपादन किया गया हो, ऐसे काव्यों को 'कामशास्त्र' का अंग मानने से कोई हानि नहीं है।

काव्यकार के लिये लोक-व्यवहार का ज्ञान परमावश्यक है और इसमें सन्देह नहीं कि 'कामशास्त्र' अथवा 'कामसूत्र' लोकज्ञान का अक्षय कोष है। शृंगारी साहित्य अथवा सामाजिक आचार-विचार को आधार मानकर लिखे गये काव्य साहित्य को यदि निचोड़ा जाय तो सबका सार भूत तत्त्व निश्चित ही 'कामसूत्र' का मूल मंत्र होगा। काम शास्त्र ने जिस प्रकार की व्यवस्था नागरक के घर की सजावट तथा रतिगृह आदि के निर्माण के सम्बन्ध में दी है, कवियों ने तत्सम्बन्धी वर्णन करते समय उन्हीं हथकंडो को अपनाया है। संस्कृत के अलंकृत अथवा रीतिपरक काव्य में वात्स्यायन के कामसूत्र का अत्यधिक सहारा लिया गया है। और उन संस्कृत की कविताओं के आधार पर हिन्दी के अलंकृत कवियों ने अपनी कवितायें प्रस्तुत की हैं। कामसूत्रकार ने शृंगार प्रसाधनो की चर्चा करते समय लेप आदि के नाम गिनाये हैं। महाकवि श्रीहर्ष ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य 'नैषधचरित' में रति से पूर्व महाराज नल को उन्हीं लेपों से शरीर को सुशोभित करता हुआ दिखलाया है जिनकी व्यवस्था काम शास्त्रकार ने कामसूत्र में की है। राजा नल का केलिभवन जिन सुगन्धित साज सज्जाओ से सजाया गया था उनका उल्लेख कामसूत्रकार ने किया है।

> क्वापि कामशरवृत्त वार्त्तया यं महासुरभितैलदीपिकाः।
> तेनिरे वितिमिरस्मरस्फुरद्दोः प्रतापनिकरांकुरप्रियः॥
>
> : नैषधीय चरित अष्टादशः सर्गः श्लोक ६ :

जिस महल अथवा काम सर को आम्र मंजरी तथा अनेक सुगंधित औषधियों, धूप, कर्पूर आदि से सजाया गया था और जो काम वाण के समान गोलाकार वत्तियोंवाले, देखने में कामबाहु के प्रतापसमूहांकुर के समान शोभा वाले महासुगंधित तैल के दीपकों से युक्त प्रकाशमान था उसमें ही नल-दम्पति ने केलि की। कामशास्त्र का सिद्धान्त है कि रतिकाल में जो जो विभ्रम सूझ पड़ते हैं वे अत्यन्त निराले होते हैं। महाकवि श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य नैषधचरित में कामशास्त्र के इन्हीं सिद्धान्तों को नल और दमयन्ती पर घटाया है। श्री हर्ष कहते हैं:—

ये महाकविभिरप्यवीक्षिताः
पाशुलाभिरपि ये न शिक्षिताः।

रतिगृह में नल और दमयन्ती की वे काम-केलियाँ होती थीं जो महाकवियों की कल्पना में एकबार भी नहीं आईं, जिन्हें महाकुलटाओं ने भी कभी किसी को न सिखाया।

दूती-कल्प का यदि पूरा-पूरा दिग्दर्शन हमें कहीं देखना है तो हम उसे 'मालती माधव नाटक' में देख सकते हैं। नायक के सहायको की लीलाएँ मालविकाग्निमित्र और रत्नावली नाटिका में देखने को मिल जाती हैं। जल, बन और गोष्ठी-विहार आदि महाकवि माघ के शिशुपाल वध और भारवि के किरातार्जुनीयम् आदि महाकाव्यों में सविस्तर वर्णित हैं। पांचाल की चतुःषष्ठी के आधार पर ही काव्यों में इनके प्रयोगों को चरितार्थ करके दिखाया गया है। कामसूत्रकार का राजमहल-प्रवेश और पूरा वैशिक दशकुमार चरित्र में दिखाया गया है। इसमें औपनिषद की पुट भी मिली हुई है। प्राथमिक सहवास के सम्बन्ध में कामसूत्र का आधार मानकर 'कुमारसम्भव' और •'शकुन्तला' में कालिदास और नैषध में श्रीहर्ष ने मृगी के सहवास की सारी विधियों को दिखा दिया है।

आज तक शृंगाररस-प्रधान जितने भी नाटक, काव्य और महाकाव्य लिखे गए हैं उन सब पर कामसूत्रकार का सबसे अधिक प्रभाव है। कामसूत्रकार वात्स्यायन को छोड़कर मानवीय सासारिक प्रवृत्ति का पूर्ण एवं तर्कसंगत वर्णन आज तक किसी ने नहीं किया है। आधुनिक कवियो का परिचय कामसूत्र से पूर्णतः न होने के कारण ही आधुनिक शृंगार-प्रधान साहित्य अपेक्षाकृत निम्नस्तरीय होता जा रहा है। आज के कवि तो प्रायः नाजोन्दाज़ के सिवा न तो दूसरे विधानो को दृष्टि में ही रखते हैं और न दूसरी कविताएँ ही कर पाते हैं। आधुनिक कविता में कल्पना को प्रमुख स्थान मिल जाने के कारण मानवीय कुछ ऐसी विधियाँ भी काल्पनिक रूप से साहित्य में आ रही हैं जो कल्पना से अधिक विज्ञान के निकट है। जब कभी कवि इन वैज्ञानिक विधियों के ज्ञानाभाव में कल्पना के माध्यम से वर्णन करने लग जाता है तो तथाकथित वर्णन से साधारण पाठकों का मनोरंजन भले ही हो जाय किन्तु विज्ञ पाठक को कलाकार की अनभिज्ञता खटके बिना नही रह सकती 'पांचाल की चतुःषष्टि' शब्द कामशास्त्र वालों का साकेतिक है। आलिंगन, चुम्बन, नखक्षत, दन्तक्षत, सम्वेशन, प्रहरण, सीत्कार, पुरुषायित, पुरुषोपसृप्त, औपरिष्टक, प्रणयकलह जिनके भेद हैं। बिना मिले स्त्री-पुरुषों के स्पृष्ट, विध्वक, उद्घृष्टक और पीडितक नामक से चार आलिंगन बताये गये हैं। 'स्पृष्टक' नैषधकार ने बड़े विचित्र ढंग से अपने व्यवहार में लाया है। स्वयंवर

के लिए उत्सुक युवक और युवतियों में बाकी आलिंगन चलते हैं या जो कौतुकागार में परिचित नही होते हैं उनमें भी ये चला करते हैं। साहित्य में इन्हें ऐसे ही स्थलों पर प्रयुक्त किया गया है। सहवास के समय के आलिंगन शास्त्र और साहित्य में इसी रूप में दिखाये गये हैं। संक्रातिक आलिंगन को भी साहित्य में स्थान मिला है। माथा, बाल, वक्षस्थल, स्तन, ओठ, मुख, ताळु, गला, स्तनों की नोक, कपोल, जघन, वरांग, कांखे तथा शरीर के अन्य सुन्दर भागों को चुम्बन की जगहें माना गया हैं। जिनका वर्णन संस्कृत महाकाव्यों के शृंगारिक स्थलो में पूर्णतः विद्यमान है। कन्या और अकन्या के भेद से भी चुम्बन के दो भेद हो जाते हैं। स्फुरित और घटित कन्या के निमित्त तथा सम, तिर्यग्, उद्भ्रान्त, अवपीडित और पीडित आदि पाँच अकन्या के निमित्त माने गये हैं। साहित्यकारों ने कामसूत्र की इन चुम्बन विधियों का प्रयोग अपनी कविताओं में किया है।

आलिंगन और चुम्बन का जूवा भी साहित्य में खूब आया है। लोग जिस जुवे को महादेव और पार्वती तक को भी खेलाए बिना नहीं माने हैं। वात्स्यायन ने कामसूत्र में दाँतों के जिन गुणों का वर्णन किया है कवियों ने उन्हीं को अपनी नायिकाओं में देखा है। किस प्रकार दाँत लगाये जाते हैं यदि कामसूत्रकार ने इसका वर्णन किया है तो कवियों ने अपने नायक-नायिकाओं में परस्पर वैसे ही दाँत लगवाये हैं यहाँ तक कि कामसूत्र में निशानों के जो नाम दिये गये हैं साहित्यकारों ने उन्हें भी नहीं छोड़ा है और अपनी कविताओं में उन्हें कह डाला है। किस देश की स्त्रियों की रँगरेलियाँ किस तरह की होती हैं इसका वर्णन यदि कामसूत्र में हुआ है तो संस्कृत और हिन्दी के कवियों ने उसी तरह किया है। महाराजा रघु के दिग्विजय प्रसंग में कालिदास ने देशाचार का भी संग्रह कर लिया जो पूर्णतः कामसूत्र पर आधारित है। यवनियों में मद्य चलता है यह आचार लेकर कालिदास ने कह दिया कि 'यवनीमुखपद्मानां सेहे मधुमदं नसः।' महाराज रघु यवनियों के मुखकमल के मद की लाली को न सह सके। यदि महाकवि कालिदास को इस देशाचार का ज्ञान न होता कि यवनियाँ मद्य-सेवन करती हैं तो यह वे निर्द्वन्द्व होकर कभी भी नहीं लिख सकते थे। क्योंकि देशाचार के विरुद्ध वर्णन कर देना साहित्य का एक प्रमुख दोष है। आसन आदि लोक और साहित्य दोनो में वर्ते जाते थे। चित्ररत प्रकरण के विधान जलक्रीड़ा आदि प्रसंगों से चरितार्थ होते हैं।

विलास के क्षेत्र में जो पशु लीलायें बताई गई हैं उनका वर्णन करना कभी-कभी आवश्यक हो जाता है क्योंकि कामकला के अभाव में योनि-जीवन के असंतुष्ट रह जाने से सम्पूर्ण दाम्पत्य जीवन कटु हो जाता है। संस्कृत, हिन्दी और उर्दू आदि के सभी कवियों ने अपनी रचनाओं में एक पुरुष का अनेक स्त्रियों के साथ तथा एक स्त्री का अनेक पुरुषो के साथ एक ही समय में रमण की कहानियाँ कही हैं। इस प्रकार की घटनायें आये दिन समाज में होती रहती हैं जिससे उपर्युक्त कथन की वास्तविकता की परीक्षा की जा सकती है और हम देखते हैं ऐसे प्रसंगो की चर्चा आधुनिक युग के उपन्यासों में पर्याप्त मात्रा में की जा रही है। रीतिकाल के कृष्ण एक ही साथ अनेक गोपियों को तृप्त करते थे। प्रहणन और सीत्कार के विषय में यही बात है। स्कन्ध, सिर, स्तनान्तर, पृष्ठ, जघन, पार्श्व आदि स्थानों में आवश्यकता के अनुसार सीधा-उल्टा हाथ, उँगलियाँ और मुक्के मारे जाते हैं तथा

यंत्रयोग से अपने और नायिका के बल के अनुसार उपसृसक, मन्थन, हुल, अमर्दन, पीडितक, निर्घात, वाहघात, वृषाघात' चटक विलसित और संपुट आदि वार किये जाते हैं। इन क्रियाओं के सम्पन्न होने में अनेक ध्वनियों का महत्त्वपूर्ण हाथ है। कामशास्त्र की ये सभी विधियाँ कवियों द्वारा काव्य चर्चा की विषय बनी है, उन्होंने अपनी नायक-नायिकाओं में इनका प्रयोग किया है। गीत गोविन्दकार श्री जयदेव ने अपनी सरस रचना में उपर्युक्त विषयों का चमत्कार दिखलाया है। प्रेमिका का प्रेमी तथा प्रेमी को प्रेमिका किस प्रकार सत्कार करती है, उनकी आपस में फँसाने वाली बाते किस प्रकार होती हैं, उन्ही अवसरों पर इस बात की भी झलक मिल जाती है।

रसिक कवियों की रचनायें प्रणय कलह पर ही अधिक हुई हैं और विचार करके देखा जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि संसार के सभी रसिक कवियों को प्रणय कलह की शिक्षा कामशास्त्र ने ही दी है। लोकधर्म के आचार-विचार से भी कामसूत्रकार ने अपने ग्रंथ को समृद्ध बनाया है जिनसे काव्यकला प्रभावित होती रही है। विवाह के जो विधान धर्मशास्त्र ने बतलाये हैं कामशास्त्र में उन्हें ही तद्वत् स्वीकार कर लिया गया है। प्रथम परिचय की जो बातें कौतुकागार में कामसूत्रकार ने बतलाई हैं, कालिदास ने अपने कुमारसंभव काव्य में उस समय की वैसी ही रचना की है। वास्तव में भारत के प्राचीन और मध्यकालीन सामाजिक जीवन पर इसका अच्छा प्रकाश पड़ा है। यह साहित्य का प्राण है, फिर साहित्यिक खोज पर इसका क्यों न प्रकाश पड़ेगा? प्राचीन कवि इसे पढ़कर ही कविता करने में पैर रखते थे, भवभूति और कालिदास के विषय में भी पाश्चात्य विद्वानों का यही मत है कि ये कामसूत्र जानते थे। इतनी उनकी भूल है कि वे कामसूत्र के वाक्यो को देखकर निश्चय करते हैं कि इन्हें कामसूत्र मालूम था, यह नहीं कहते कि इनकी रचना का जो भी कुछ प्लाट है वह सब कामसूत्र का है। मेरा तो यह दृढ़ निश्चय है कि प्राचीन कवियों की सांगोपांग कवितायें कामसूत्र के आधार पर बनी [1]। जो भी हो इसमें तो सन्देह नहीं कि शृंगारिक रचनाओं पर कामसूत्रकार का अत्यधिक प्रभाव लक्षित होता है।

१—हिन्दी भूमिका—कामसूत्र:वात्स्यायन कृत, प्रथमों भाग: १ कल्याण—बम्बई सम्वत १९९१।
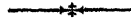
मुक्तक काव्य की आवश्यकता

मुक्तक काव्य

मुक्तक काव्य की महत्त्वपूर्ण एक विशिष्ट शैली है, जिसमें काव्यकार अपने प्रत्येक छन्द में ऐसे स्वतन्त्र भावो की सृष्टि करता है जो अपने आप में पूर्ण होते हैं। मुक्तक काव्य के प्रणेता को अपने भावों को व्यक्त करने के लिये अन्य सहायक छन्दों की आवश्यकता नहीं होती। जहाँ कहीं भावों की अपूर्णता का भान हो तथा अभिप्रेत भावों को व्यक्त करने के लिये अन्य छन्दों की सहायता लेनी पड़े, समझ लीजिये कि या तो काव्यकार का काव्य-कौशल अपूर्ण है अथवा वह काव्य मुक्तक काव्य नही है। छन्दों की परिमित सीमा में अपने आप में पूर्ण खंड चित्र की जैसी अनुपम अभिव्यक्ति मुक्तक काव्य के माध्यम से सम्भव हो सकी है, वह प्रबन्ध काव्यों के लिये सर्वदा स्पृहा की वस्तु है। सस्कृत के आचार्यो ने भी मुक्तक काव्य की परिभाषाएँ दी हैं। काव्यादर्शकार आचार्य दंडी तथा आनन्दवर्द्धनाचार्य आदि आचार्यो ने स्वावलम्बी अर्थात् अर्थाभिव्यक्ति के लिये अन्य किसी के आश्रित न होने वाले छन्द को ही मुक्तक काव्य की सीमा के अन्तर्गत रखा है।

प्रबन्ध काव्य के प्रत्येक पद एक दूसरे पर आश्रित एवं नथे रहते हैं और मिलकर ही अभिप्रेत भावो की अभिव्यक्ति कर पाते हैं। जब काव्यकार अपनी कृति द्वारा एक क्रमबद्ध सुसगठित ललित कथा की अभिव्यक्ति करना चाहता है तो उसे प्रबन्ध काव्य का सहारा लेना पड़ता है, जिसकी अभिव्यक्ति मुक्तको के माध्यम से कभी भी सम्भव नहीं हो सकती। मुक्तको की भाँति प्रबन्ध काव्य के प्रत्येक छन्दो की अलग सत्ता नहीं होती वह अपनी भावपूर्णता के लिये अन्य छन्दों की भी अपेक्षा रखता है किन्तु मुक्तकों को अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिये प्रबन्ध काव्यों की भाँति दूसरो की सहायता की आवश्यकता नहीं होती। साहित्यशास्त्र के अनुसार रसनिष्पत्ति के लिए विभाव, अनुभाव, और संचारीभाव आदि विपुल सामग्रियों की योजना स्थायीभाव के साथ करना, जितना प्रबन्धो के माध्यम से सम्भव है, उतना मुक्तको के माध्यम से नही। प्रबन्ध की विशाल भूमि ही ललित कथा का प्रसार भार-वहन कर सकती है जिसके लिये निश्चय ही मुक्तक सर्वथा असमर्थ हैं। प्रबन्ध के विस्तार एवं कल्पना सूत्रो को अपनी सीमित परिधि में समेट न रखने की शक्ति रखते हुए भी 'मुक्तक' अपनी कतिपय मौलिक विशेषताओ के कारण अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त कर सके हैं।

प्रबंध काव्य की अपेक्षा मुक्तक रचना के लिये कला की आवश्यकता अधिक होती है क्योंकि 'काव्य रूप की दृष्टि से मुक्तक में न तो किसी वस्तु का वर्णन ही होता है न वह गेय ही है। यह जीवन के किसी एक पक्ष का अथवा किसी एक दृश्य का या प्रकृति के किसी पक्षविशेष का चित्र मात्र होता है। पूरे जीवन का चित्र नही होता। प्रबन्ध काव्य को भावाभिव्यक्ति के लिये काव्यगत जितनी सुविधायें प्राप्त हैं उतनी

मुक्तकों को नहीं। यही कारण है कि काव्यकार को प्रबन्ध काव्य की अपेक्षा सफल मुक्तकों की सृष्टि के लिये अधिक कौशल की आवश्यकता होती है। प्रसग के पूर्वापर सम्बन्धो से वंचित रहने के कारण तथा परिस्थिति-साहचर्य के अभाव में, पूर्वापर प्रसंगों की कल्पना का कार्य मुक्तकों को सहृदय पाठक या श्रोता पर ही छोड़ देना पड़ता है, जिससे उसके लिये कला की अपेक्षा प्रबन्धों से अधिक बढ़ जाती है। स्व० पं० रामचन्द्र जी शुक्ल ने प्रबन्ध और मुक्तक का परस्पर भेद स्थापित करते हुए लिखा है कि मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथा-प्रसंग की परिस्थिति में भूला हुआ पाठक निमग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस की ऐसी छींटें पड़ती हैं जिससे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिये खिल उठती है। यदि प्रबन्ध काव्य विस्तृत बनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संघटित पूर्ण जीवन का या उसके कसी अंग का प्रदर्शन नहीं होता बल्कि कोई एक रमणीय खंड दृश्य सहसा सामने ला दिया जाता है।[१] कतिपय शब्दों में यह कहा जा सकता है कि पूर्वापर प्रसंगो की परवाह किये बिना सूक्ष्म एवं मार्मिक खंडदृश्य अथवा अनुभूति को सफलतापूर्वक प्रस्तुत करने वाली उस रचना को मुक्तक काव्य के नाम से अभिहित किया जाता है जिसमें कथा का व्यापक न तो प्रवाह रहता है न तो उसमें क्रमानुसार किसी कथा को सजाकर वर्णन करने का आग्रह, बल्कि मुक्तक काव्य में सूक्ष्मातिसूक्ष्म मार्मिक भावो की ही अभिव्यक्ति होती है जो स्वयं में पूर्ण तथा अपेक्षाकृत लघु रचना होती है।

मुक्तक काव्य की आवश्यकता—

मुक्तक काव्य की रचना के मूल में मानव जीवन की विविधता एवं उसकी अनेक कलाओं की ओर बढ़ती हुई अभिरुचि है। वैसे तो 'मुक्तक' काव्य को प्रबन्ध काव्य से बिल्कुल अलग करके देखना इसलिये अत्यन्त कठिन जान पड़ता है कि 'मुक्तक' काव्य प्रबन्ध अथवा महाकाव्य की वह छोटी इकाई है जिसके सहारे उसके भव्य भवन का निर्माण होता है। किन्तु जहाँ तक विषय को प्रस्तुत करने का प्रश्न है दोनों में नितान्त भिन्नता है। प्रबन्ध काव्य की विशालता एवं व्यापकता को समेटकर कलात्मक रूप देने का कार्यमुक्तकों द्वारा ही सम्भव हो सका है। समय, संकोच और कला 'मुक्तक' काव्य का मूल रहस्य है।

आदि कवि बाल्मीकि के क्वारे कंठ से जिस शुभ मुहूर्त में कविता-कामिनी का जन्म हुआ था वह साधना, तपस्या और चिन्तन का काल था। उस समय मानव जीवन के बाह्य एवं भौतिक पक्षों की अपेक्षा आन्तरिक एवं आध्यात्मिक पक्षों पर ही बल दिया जा रहा था। न तो मानव का सामाजिक जीवन ही अधिक विषम हो पाया था और न तो उसके दैनिक जीवन में ही विविधता का समावेश हो पाया था। ऐसी स्थिति में साधना और चितन के आधार पर सामाजिक जीवन दर्शन एवं आदर्श चरित्र निर्माण को लेकर महान् प्रबन्ध काव्यों की रचना नितान्त सम्भव थी। इस प्रकार की स्थिति केवल भारतवर्ष की ही नहीं रही बल्कि प्रत्येक देश के साहित्य का इतिहास इसी प्रकार का है। सामाजिक आचार-विचार एवं सभ्यता के विकास के साथ ही साथ साहित्य का विकास होता है। जिस किसी भी देश के इतिहास को लें, हमें साहित्य के ऐतिहासिक क्रम का विकास एक सा मिलेगा।

१—रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० २७५

प्रत्येक देश का साहित्य कविताओं से आरम्भ होकर प्रबन्ध काव्यों के बीच से होता हुआ 'मुक्तकों' और गद्य रूपों तक आया है। इतना तो सभी स्वीकार करेंगे कि 'भौतिक' युगीन सामाजिक सभ्यता मानव सभ्यता का आरम्भ नहीं बल्कि विकास अथवा अंत है। सामाजिक विषमताओं के मूल में 'भौतिक' तत्त्वों की प्रधानता रहती है जिनके अभाव में आध्यात्मिक तत्वों पर बल देने वाली निवृत्तिमूलक सामाजिक सभ्यता सम्पूर्ण सामाजिक जीवन के आदर्शों को प्रस्तुत करने वाले साहित्य रूप प्रबन्ध काव्यों के लिये सर्वथा उपयुक्त होती है। यही कारण है कि आरम्भ से 'मुक्तक' काव्यों को किसी प्रकार का प्रश्रय नही मिल सका। ज्यों-ज्यों समाज सभ्यता के पथ पर आगे बढ़ता गया और उसमें कलाप्रियता आती गयी त्यो-त्यों प्रबन्ध काव्यों के आकार-प्रकार एवं कलात्मकता में भी परिवर्तन उपस्थित होता गया। बाल्मीकि की सी स्थिति 'कालिदास' में नही, रही 'कालिदास' की सी अवस्था 'भारवि', 'माघ' तथा श्रीहर्ष में नहीं रह पाई और परवर्ती काव्यो में पूर्ववर्ती काव्यो से जो महान अन्तर दिखाई पड़ता है, इन सभी परिवर्तनों के मूल में बदलते हुए सामाजिक मूल्यो को छोड़कर और कुछ नही है।

भारतीय साहित्य में समाज की उन परिस्थितियों की आवश्यकताओं ने 'मुक्तक' काव्यों को जन्म दिया है अथवा उनको विकसित होने का अवसर प्रदान किया है जो क्षत्रिय संस्कृति अथवा सामंती सभ्यता के प्रभाव से उत्पन्न हुई थीं। सामंती सभ्यता में संगीत और कला को जो महत्त्वपूर्ण स्थान मिला तथा सामाजिक प्रवृति को जो वैभव विलास की ओर अग्रसर होने की ओर प्रोत्साहित किया गया, उसकी चर्चा हम आरम्भ ही में कर आये है। मुक्तक काव्य एक कला है जिसे दरबारी कलाप्रियता ने जीवन और यौवन देकर आकंठ भोगा है। निश्चित ही इसका जन्म परिस्थिति विशेष की माँग को पूरी करने के लिये हुआ जो क्षत्रिय संस्कृति द्वारा उत्पन्न हुई थी। काव्यकार की साधना के सम्मुख जीवन तथा प्रतिष्ठा का प्रश्न उपस्थित था जिसकी रक्षा के लिये 'मुक्तकों' को आना पड़ा। राज दरबारों में कलाविदों के जिस जमघट की चर्चा पूर्व में ही कर दी गई है, उसमें कविगण भी भाग लेते थे जो मनीषी की अपेक्षा कलाकार अधिक थे।

सामंतों का दैनिक जीवन इतना व्यस्त होता था तथा कलात्मक सामग्रियों की इतनी विविधता दरबारों में प्रस्तुत रहती थी कि सबका भरपूर आनन्द लेना भी उसके लिये कठिन था। अधिक से अधिक सम्मान तथा समय उसी कला और कलाकार को मिल सकता था जो कलाओं की दौड़ अथवा होड़ में अधिक से अधिक निखार कर अपने को आगे रखकर लोगों को आकर्षित कर सकता था। कम से कम समय में अधिक से अधिक चमत्कार एवं आनन्द की अनुभूति करा देना भी एक कला थी। दरबारो में जिन रचनाओं को सुनाने का अवसर मिल पाता था उनका लघु होना आवश्यक था जिससे कथाबद्ध प्रबन्धों को लेकर जाने वाले कवि को दरबार से विशेष सम्मान की सम्भावना नहीं थी। सबसे महत्त्व-पूर्ण वस्तु तो यह है कि राजसभाओं मे सम्मानित कलाओ के विषय ऐसे थे जिनको मुक्तकों के माध्यम से ही प्रकट किया जा सकता था। बड़ी प्रसिद्ध कहावत है 'आवश्यकता अन्वेषण की जन्मदात्री है। दरबारो के प्रिय विषय थे उपदेश और शृंगार। उपदेश देना सरल कार्य नहीं। संसार में 'उपदेश' से बढ़कर कड़वी औषधि दूसरी नहीं जिसे लोग लेना

नहीं चाहते और ऐसी औषधि प्रदान करके सम्मान प्राप्त करना तो और भी बड़ी बात है। किन्तु राजाओं और सामंतों को समय समय पर ऐसी औषधि की आवश्यकता पड़ी है, इतिहास साक्षी है।

कवियो की चतुरतापूर्ण उक्तियो ने अनेकों भटकते हुए राजाओ-महाराजाओं को सन्मार्ग तक पहुँचाया है, सैकड़ों बिगड़ते हुए साम्राज्यों की रक्षा की है और अनेको बार देश का उद्धार किया है। अपनी नव विवाहिता पत्नी संयोगिता की ऊष्ण स्वासो में यदि पृथ्वीराज अलसाया रहता और यदि उसका पौरुष उस सौन्दर्यमयी नारी की कोमल बाहुपाश में बंधा ही रहता तो आज उसकी सतान उसे क्या कहती क्या कवि चन्दबरदाई की यह उक्ति—

'इत 'गोरी' गर लाय तू, भोगत सँभरि राय।
भोगत राजश्री हूतो उत 'गोरी' गरलाय'।

कभी भुलाई जा सकती है? जिसने सोते हुए सिंह के शरीर में अंगड़ाई लाकर भारतीय गौरव की रक्षा की। विलास में डूबा पृथ्वीराज चन्द की फड़कती हुई उक्ति से ही रणभूमि में आया तथा बारबार 'गोरी' को पराजित करने पर भी जब वह छल से शत्रु के बन्धन में आ गया तो चन्द की बुद्धिमत्ता एवं उक्ति से ही उसे समाप्त कर सका। यदि 'चन्द' की बुद्धि और उक्ति सहायक न होती तो चक्षुहीन पृथ्वीराज का शब्दवेधी बाण चलाने का सारा कौशल व्यर्थ हो जाता और मुहम्मद गोरी का बध कदापि न हो पाता।

हिंदी के कविवर बिहारी और मिर्जा जयसिंह के संबंध में कुछ ऐसे ही घटना है। इसी प्रकार महाकवि मतिराम ने अपनी एक उक्ति के द्वारा कुमायूँ नरेश उद्योतचन्द के दरबार में जाने से रोके गये कवियो के द्वार को मुक्त किया था। कहा जाता है कि महाकवि 'भूषण' एक बार अपने आश्रयदाता वीरकेशरी शिवाजी का यश विस्तार जानने के लिये यात्रा पर निकले और उसी सिलसिले में कुमायूँ नरेश उद्योतचन्द के यहाँ भी गये जहाँ उनके बड़े भाई मतिराम पहले ही उपस्थित थे। उद्योतचन्द कवियो का बड़ा सम्मान करते थे। उन्होंने चलते समय बहुत-सी मुद्रायें भूषण को यह जानने के लिये भेंट की कि देखें क्या शिवाजी ने सचमुच महाकवि को असंख्य धन दिया है? 'भूषण' ने मुद्राओं को फेकते हुए यह कहा कि अब मुझे धन की इच्छा नहीं रही, मैं तो यह देखने आया था कि यहाँ तक महाराज शिवाजी का यश पहुँचा है अथवा नहीं। कवि के इस व्यवहार से राजा रुष्ट हुये और उन्होने दरबार में कवियों के आने की रोक लगा दी। जिस पर मतिराम की उक्ति का इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने कवियों को पूर्ववत् स्वीकृति प्रदान कर दी—

'करन के बिक्रम के भोज के प्रबन्ध सुनो,
कैसी भांति कबिन को आगो लीजियतु है,
कवि 'मतिराम' राजसभा के सिंगार हम,
जाके बैन सुनत पियूष पीजियतु है,
एक के गुनाह नरनाह श्री उदोतचन्द,
कबिन पै ऐतो कहा रोष कीजियतु है,

'काह मतवारे एक अंकुश न मान्यो तो,
दुरद दरबारन ते दूरि कीजियतु है।'

इस प्रकार उपदेश अथवा सुझाव सम्बन्धी छन्दों में घटना विशेष अथवा परिस्थिति विशेष का ही उल्लेख करना होता है जिसके पीछे न तो कोई लम्बी कहानी होती है और न तो जीवन का पूरा लेखा-जोखा ही। सबसे बड़ी बात तो यह है कि जिसे सुनाना होता है वह सुनने के लिये तैयार नहीं रहता। ऐसी स्थिति में प्रबन्ध अथवा महाकाव्यों से कार्य कदापि नहीं चल सकता, इस अवसर के लिये तो ऐसी उक्ति की आवश्यकता होती है जो सहसा चमत्कृत कर दे अथवा सीधे हृदय के मर्मस्थल तक बेरोकटोक पहुँच जाय। यह गुण केवल मुक्तककाव्य में ही निहित होता है।

श्रृंगार दरबारों की मुख्य प्रवृत्ति है जो विलास का मुख्य द्वार खोलती है। विभिन्न नायिकाओं, दासियों, देव-दासियों तथा राज-नर्तकियों की चर्चा हम पूर्व ही कर चुके हैं जो राज दरबारों के प्रधान अंग हुआ करती थीं। सौन्दर्य का संयुक्त प्रभाव सौन्दर्य की अनेक इकाइयों से मिलकर बनता है जिनमें से कुछ इकाइयों का अपना अलग अस्तित्व भी होता है जो सम्पूर्ण सौन्दर्य का अंग होती हुई भी अलग भी अपना सौन्दर्य रखती हैं। सौन्दर्य को शब्दों में उतारना तो असम्भव ही है क्योंकि उसकी केवल अनुभूति होती है जो भावात्मक है। हम केवल अपने ऊपर पड़े प्रभावों को ही व्यक्त करने का प्रयत्न करते हैं जो आंशिक और सम्पूर्ण दोनों रूपों में ही सुखद होता है। सौन्दर्य स्थायी नहीं होता क्योंकि उसके मूल्य बनते बिगड़ते रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में काव्य के माध्यम से सौन्दर्य का सच्चा स्वरूप उपस्थित करना असम्भव कल्पना को छोड़कर और कुछ नहीं। कलाकारों ने अपनी असमर्थता भी प्रकट की है—

नाज़ुक है न खिंच वाऊँगा
तस्वीर मैं उसकी।
चेहरा न कहीं अक्स के
बदले उतर आये॥ रशीद:

नायक अपनी नायिका का चित्र उतरवाना चाहता है, पर उसकी नायिका इतनी नाज़ुक है कि उसे भय बना है कि कहीं चित्र लेते समय अक्स के बदले नायिका का चेहरा ही न उतर आये।

'लिखन बैठि जाकी सबिहि, गहि-गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर॥'

: बिहारी :

शक्ल तो देखो मुसव्विर खीचेगा तसवीरे-यार,
आप ही तसवीर उसकी देख कर हो जायगा।

: जौक :

न हो महसूस जो शै किस तरह नक्शे में ठीक उतरे।
शबीहे-यार खिंचवाई कमर बिगड़ी दहन बिगड़ा।

: मसहफी :

बिहारी का सौन्दर्य निरन्तर बढ़ रहा है जिससे चित्रकार सही चित्र उतारने में असमर्थ हो जाते हैं। ज़ौक साहब को तो उम्मीद ही नहीं है कि मुसव्विर यार की तस्वीर खींच सकेगा उनका ख्याल है कि मुसव्विर यार को देखकर खुद तस्वीर बन जायगा। 'मसहफी' ने बड़ी मेहनत से 'शबी है' यार खिंचवाई थी, पर शक्ल ठीक न उतरी क्योंकि मुँह और कमर बिगड़ गई। इसी प्रकार की और भी उक्तियो को देख सकते हैं—

'सगरब गरब खींचे सदा, चतुर चितेरे आय।
पर वाकी बाँकी अदा, नेकु न खींची जाय।
: शृङ्गार सतसई : ४७

'पल पल में पलटन लगे, जाके अंग अनूप,
ऐसी इक ब्रजबाल को, कहि नहि सकत सरूप।'
: पद्माकर :

'लहज़ा लहज़ा है तरक्की पै तेरा हुस्नो जमाल,
जिसको शक हो तुझे देखे तेरी तसवीर के साथ।'
: अकब्बर :

'नात वानी मेरी देखी तो मुसव्विर ने कहा,
डरहै तुम भी कहीं खिंच आवो न तसवीर के साथ।'
: अकबर :

इस प्रकार सौन्दर्य जो शृङ्गार का आधार है अपने परिवर्तन वेष में नित्य नवीनता के साथ खण्ड खण्ड जो स्वतः अपने में पूर्ण होता है, द्रष्टा के आँखों के सामने आता रहता है जिससे तदनुकूल छन्द मुक्तकों के सहारे ही उनकी अभिव्यक्ति की जा सकती है। जिस प्रकार अंग प्रत्यंग अथवा सौन्दर्य की विभिन्न इकाइयों का आनन्द लेते हुए ही सम्पूर्ण सौन्दर्य की अनुभूति कर पाना हमारे लिये सम्भव होता है उसी प्रकार प्रत्येक मुक्तकों का रस लेते हुए ही हम सौन्दर्य की विभिन्न अदाओं का अलग और सम्यक् रूप से आनन्द उठाते हैं। सम्भवतः शृङ्गार में नख-शिख वर्णन इन्ही कारणों का परिणाम है।

काव्य के शृंगार और नीतिपरक विषयो ने मुक्तक-काव्य को तो विकसित किया ही इसके अतिरिक्त काव्यशास्त्र के बढ़ते हुए महत्त्वपूर्ण प्रभाव ने तो मुक्तक काव्य को और भी गौरवान्वित किया है। साहित्य सृजन पहले होता है और उसके विधान बाद में बनते हैं। आचार्य परम्परा को जितना महत्त्वपूर्ण स्थान भारतवर्ष में दिया गया है उतना ससार के अन्य देशों में नहीं। प्रभूत मात्रा में साहित्य निर्माण के पश्चात् उसके विधान की ओर भी लोगों की दृष्टि गयी। काव्य-रचना के जिन लोगों ने विधान बनाये वे आचार्य कहलाये और उनके विधान को शास्त्र का नाम दिया गया। आचार्यों के शास्त्रीय नियमों का पालन करना कवियों के लिये अनिवार्य सा हो गया इस प्रकार भारतीय काव्य में आचार्यों की भी एक विशाल परम्परा है। संस्कृत के अधिकांश आचार्यों ने तो केवल लक्षण लिखे हैं और उदाहरण के लिये उन्होंने परवर्ती अथवा समकालीन कवियों की कविताओं को ही उद्धृत किया है किन्तु उनके अनुगामी हिन्दी-काव्य के आचार्यों ने तो लक्षण और उदाहरण दोनों स्वयं रचे हैं जिससे प्रभूत मात्रा में मुक्तकों की सृष्टि हुई है। अलंकार वर्णन

और नायिका भेद काव्यशास्त्र के प्रमुख अंग रहे हैं। दोनों ही ऐसे विषय हैं जिनका अपने भेदों-प्रभेदों से कोई भी लगाव नहीं रहता और वे स्वतः स्वतन्त्र होते है जिससे अलग उनका वर्णन करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में किसी प्रकार की भी सम्भावना नही रह पाती कि काव्यशास्त्र के निर्माण में ऐसे साहित्य रूप को स्थान मिले जिसमें प्रबन्धात्मकता हो। मुक्तक-काव्य की परिस्थितियों की देखते हुए कहा जा सकता है कि यह काव्य उन परिस्थितियो की देन है जिसे उपदेश अथवा नीतिकार काव्यशास्त्र के आचार्य तथा श्रृङ्गारी कवि किसी भी प्रकार न तो टाल सकते थे और न अन्य किसी काव्य रूप के माध्यम से उन परिस्थितियों का उत्तर दे सकते थे।

मुक्तक काव्य के प्रकार—

विषय और स्वरूप के आधार पर मुक्तकों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। शृंगारिक, वीररसात्मक तथा नीतिपरक तीन प्रमुख वर्ग मुक्तकों के विषय के आधार पर किये जा सकते हैं और गीत, प्रबन्ध मुक्तक, स्वतन्त्र गेय मुक्तक, विशुद्ध मुक्तक, कोष मुक्तक, स्वतन्त्र मुक्तक, संघात मुक्तक, विषय-प्रधान संघात मुक्तक, विषयी-प्रधान संघात मुक्तक, एकार्थ प्रबन्ध तथा मुक्तक प्रबन्ध आदि भेदों को स्वरूप के अंतर्गत रख सकते हैं।

शृंगारपरक मुक्तकों के अन्तर्गत ऐहिकतापरक रचनायें आती हैं जिनमें अधिकतर नायक-नायिकाओं की अश्लील चेष्टाये, भाव-भंगिमा तथा संकेत स्थलों का सरस वर्णन होता है। मिलनकाल की मधुर क्रीड़ा तथा वियोग के क्षणों में बैठे आँसू गारना अथवा विरह की ऊष्णता से धरती और आसमान को जलाना आदि अत्युक्तिपूर्ण रचनाये ही शृंगारी मुक्तकों की निधि हैं। राधा और कृष्ण के नाम से शृंगार का धार्मिक सम्पर्क हो जाने के कारण शृंगारिक मुक्तकों के अन्तर्गत कुछ ऐसी भी रचनाये आती है जो लौकिकता से अधिक पारलौकिकता की और संकेत करती हैं। पर मुख्यतः ऐसा देखा गया है कि राधा और कृष्ण का बीच-बीच में नाम तो ले लिया गया है किन्तु वर्णन नितान्त लौकिक है। ऐसी रचनाओं का हिन्दी मध्यकालीन साहित्य में बाहुल्य है जो राधा और कृष्ण की ओट में विलासी नायक-नायिकाओं की भाव-भंगियों का ही चित्रण करती हैं। नायक-नायिका भेद शृंगारी मुक्तकों का अत्यन्त प्रिय विषय रहा है। नायक-नायिकाओं की संयोग-वियोग अवस्थाओं, सहेट स्थल तथा विभिन्न ऋतुओं के प्रभाव वर्णन में शृंगारी मुक्तककारो का मन खूब लगा है।

वीररसात्मक मुक्तक—

वीररस-प्रधान मुक्तकों के अन्तर्गत मुख्यतः दरबारी कवियो की दर्पपूर्ण वे उक्तियाँ हैं जिनमें उन्होंने अपने आश्रयदाता अथवा उसके पूर्वजों की कीर्ति का गान अधिक बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया है। वीर बालाओं ने युद्धकाल में अपने रूप का नशा अत्यधिक अपने पति पर देख कर जो फटकारें दी हैं वे भी वीर रसात्मक मुक्तकों की अमूल्य निधियाँ हैं। राजपूती दरबारों में लिखे गये साहित्य में ऐसी रचनाओं की अधिकता है क्योंकि तलवार ही उनकी सम्पत्ति थी और युद्ध ही उनका व्यापार।

नीतिपरक मुक्तक—

संतों के वचन अथवा बानियाँ तथा उनके अमूल्य उपदेश नीतिपरक मुक्तकों के अन्तर्गत आते हैं। चातक तथा बादल इनके प्रधान प्रतीक रहे हैं जिनके माध्यम से इन्होंने

अपनी अन्योक्तियाँ की हैं। इसके अतिरिक्त बहुत से ऐसे मुक्तक काव्यों की सृष्टि हुई है जिनमें विष्णु, शिव, दुर्गा आदि आराध्य देवों की स्तुति की गयी है, उन्हें भी यदि हम इस नीतिपरक वर्गीकरण में ही स्थान दे दें तो अधिक असंगत न होगा यद्यपि उन्हें धर्मपरक मुक्तक कहना अधिक संगत होगा।

स्वरूप के आधार पर मुक्तकों के प्रकार—

गीत—

गीति और मुक्तक काव्यों में कुछ लोग अन्तर मानते हैं किन्तु दोनों में कोई तात्त्विक भेद नहीं दिखलाई पड़ता जिससे इसे मुक्तक काव्य के अन्तर्गत ही रखना उचित होगा। अपनी कतिपय प्रमुख विशेषताओं के कारण ही गीति काव्य मुक्तक काव्य से पृथक् जान पड़ता है। गीति काव्य की गेयता उसकी प्रमुख विशेषता है जो मुक्तक काव्य से उसे अलग करती है। इसके अतिरिक्त गीति काव्यो में अधिकाश कथाओं को ही अलंकृत काव्यमयी शैली में चित्रित किया जाता है, प्रमाण स्वरूप महाकवि 'सूर' के गीतों को ले सकते हैं। तुलसीदास की गीतावली तथा कवितावली इसी कोटि की रचनाये हैं जिनमें से कथाओं को निकालकर काव्यरस का आनन्द प्राप्त करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। शुद्ध एवं स्वतन्त्र मुक्तकों में ऐसी कोई कठिनाई नहीं होती क्योंकि वे जीवन के खंडचित्रों को लेकर लिखी गई अपने में पूर्ण रचनायें होती हैं। ऐसी स्थिति में गीतिकाव्य को यदि हम 'प्रबन्ध मुक्तक' के अन्तर्गत रख दें तो अनुचित न होगा।

आख्यान-गीत या वीर गीतात्मक मुक्तक—

आख्यान-गीतों को भी कुछ विद्वान गीतों की श्रेणी में रखते हैं। हिन्दी में गीत और प्रगीत को एक दूसरे से भिन्न माना गया है किन्तु पाश्चात्य साहित्य में समवेत काव्य 'कोरस' और वीरगीत 'बैलेड' प्रगीत काव्य के अन्तर्गत ही लिये गये हैं। यह वस्तुतः आदिम काव्य का रूप है। मानव सभ्यता के अत्यन्त आरम्भ में मानव समाज अपने हर्ष-विषाद को सामूहिक ढंग से नृत्य, गीत, वाद्य आदि के साथ व्यक्त करता था। जैसा कि कहा जा चुका है, सभ्यता की वृद्धि के साथ नृत्य अलग हो गया, वाद्य अलग और गान अलग। यह गान विशुद्ध लिरिक नहीं था बल्कि कथात्मक था। यही कथा निकल कर आगे आई और प्रबन्ध काव्यों, पुराणों आदि में विस्तृत हो गई। लेकिन कथात्मक गीत का वाद्य के साथ गान आज भी प्रचलित है। यही वीरगीत या आख्यान-गीत है।[1] हिन्दी में 'आल्ह खंड' इस कोटि का सर्वोत्तम काव्य कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त वीसलदेव रासो को भी किसी हद तक आख्यान-गीतिकाव्य के अन्तर्गत रख सकते हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने आल्ह खंड को 'वीरगीति'[2] और डा० रामकुमार वर्मा ने वीर रस प्रधान एक गीति-काव्य[3] के रूप में स्वीकार किया है। इस प्रकार की रचनाओं में व्यक्ति तत्त्व को बहुत कम महत्त्व दिया जाता है और समाज का सामूहिक तत्त्व ही अधिक उभड़ कर सामने आता है। मार्मिक स्थलों पर रुकने की प्रवृत्ति बहुत कम और कथा-धारा का वेग अधिक तीव्र होना ही

१—हिन्दी मुक्तक काव्य का विकास—जितेन्द्र पाठक, प्र० सं० पृ० २५।

२—हिन्दी साहित्य का इतिहास-रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ३२।

३—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ६९, ७०।

आख्यान गीतों की प्रमुख विशेषता है जो इसे गीतों की अपेक्षा प्रगीतों के अधिक निकट ले जाती है। ऐसे काव्यों की प्रवृत्ति पूर्णतः प्रगीतात्मक होती है जिससे इन्हें प्रबन्धात्मक काव्यों के अन्तर्गत ही रखना अधिक समीचीन जान पड़ता है क्योंकि मुक्तककाव्य के लक्षण इनमें बहुत न्यून हैं।

प्रबन्ध मुक्तक—

प्रबन्ध गेय मुक्तकों की भी दो कोटियाँ दिखलाई पड़ती हैं जिनमें से एक का सम्बन्ध लौकिक श्रृंगारिक कविताओं से है और दूसरी का भक्तिपरक गीतों से। भक्तिपरक गीतों का स्रोत या मूल वैष्णव भगवद् भक्ति में है, राजसभाओं में नहीं। ये गीत न तो भाट और चारण की सृष्टि है और न भोग-विलासिता की उपज। वास्तव में इनका स्वर राधा-रमण नटवर श्री कृष्णचन्द्र जी की लीलाओं से प्रस्फुटित हुआ है जिनपर श्रीमद्भागवत तथा 'वेदव्यास' का सबसे अधिक प्रभाव है। हिन्दी के 'सूर' तथा 'नन्ददास' आदि अष्टछाप के कवियों पर यह प्रभाव सबसे अधिक स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ता है, किन्तु विदेशी मुस्लिम संस्कृति के सम्पर्क में आने के कारण फारसी साहित्य की कोमल प्रेम-भावनाओं ने उनके स्वर को भी कोमल बना दिया था, जिससे उनमें पूर्व के संस्कृत वैष्णव कवियों की सी कर्कशता नहीं रह पाई थी।

भक्तिपरक गीतों के साथ ही साथ स्वस्थ लोक जीवन से अभिभूत ऐहिकतापरक गीतों की भी सृष्टि हो रही थी। भक्त कवियों ने जिस स्रोत से भक्ति-भावना को ग्रहण किया वहीं से स्वस्थ लोक-जीवन के मधुर गायक कवियों ने भी प्रेमपरक प्रेरणायें ग्रहण कीं।

स्वतन्त्र गेय मुक्तक—

भक्तिपरक प्रबन्ध गेय मुक्तकों पर भी जिस कविता की कोमलता का प्रभाव पड़ा है, वह है—सरस गेय कविता, जो लीलाप्रभु श्रीकृष्ण और ब्रजांगनाओं के निकट तथा ब्रजभूमि के आसपास तो जाती रही किन्तु जिसमें मानव मन की श्रृंगारिक वृत्तियों की ही अभिव्यक्ति अधिकतर हुई है। भक्तिपरक स्वतन्त्र गेय पद लिखने वाले वे कविगण, जिन पर भागवत सदृश धार्मिक ग्रन्थ का प्रभाव तो है किन्तु उनकी कथाओं को ही बाँधने का प्रयत्न नहीं किया, उन स्वतन्त्र गेय मुक्तकों से सर्वाधिक प्रभावित हैं जो 'विद्यापति' के कण्ठ से फूटे थे।

विशुद्ध मुक्तक—

विशुद्ध मुक्तक ही सच्चे अर्थों में मुक्तक काव्य है जिसके एक छन्द से ही एक पूरी बात कह दी जाती है और वह अपने अभिप्रेत विषय को व्यक्त करने के लिये किसी अन्य छन्द के आश्रित नहीं रहता। संस्कृत का श्लोक, प्राकृत की गाथा, अपभ्रंश का दूहा, हिन्दी का दोहा, कवित्त तथा सवैया आदि विशुद्ध मुक्तक काव्य के अत्यन्त प्रिय छन्द हैं।

कोष मुक्तक—

विशुद्ध मुक्तक काव्य का ही एक अंग कोष मुक्तक है जिसमें प्रायः एक ही कवि की एक ही प्रकार की रचनाओं का संग्रह तैयार किया जाता है। कोष मुक्तक काव्य के भी संख्यापरक और लक्षणनिष्ठ दो प्रमुख भेद किये जा सकते हैं। सख्यापरक कोष मुक्तक काव्य के छन्दों की संख्या निश्चित होती है जैसे हजार, सात सौ, पचास, बावन इत्यादि

रतन हजारा, गाथा सप्तशती, आर्या सप्तशती, बिहारी सतसई, अमरुशतक, भर्तृहरि के शतक त्रय, उद्धव शतक, नयन पचासा 'मंडनमिश्र' शिवा बावनी आदि रचनायें उदाहरण के लिये ली जा सकती हैं[1]। लक्षणनिष्ठ कोष मुक्तकों के छन्दो की संख्या निश्चित नहीं रहती बल्कि वे अलंकारादि शास्त्रो के लक्षणो को दृष्टि में रखकर संकलित की जाती हैं, चन्द्रालोक, भाषा भूषग तथा कवि कल्पद्रुम आदि ग्रंथों को उदाहरण स्वरूप ले सकते हैं।

स्वतन्त्र मुक्तक—

कोष मुक्तक की भाँति ही स्वतन्त्र मुक्तक विशुद्ध मुक्तक काव्य का एक अंग अथवा भेद है जिसके लिये न तो संख्या का बंधन है और न एक प्रकार के छन्दों का ही। बल्कि कवि की लेखनी से तत्काल निकले प्रत्येक फुटकर छन्द को स्वतन्त्र मुक्तक की संज्ञा दी जा सकती है। स्वतन्त्र मुक्तक काव्य के लिये प्रेम, शृंगार, नीति तथा वीररस आदि कोई भी विषय चुना जा सकता है।

संघात मुक्तक—

संघात मुक्तक काव्य में एक ही कवि की मुक्तक रचनाओं का संग्रह होता है जिसमें एक ही प्रकार के पद्यों पर नही बल्कि एक ही विषय पर बल दिया जाता है। एक ही कवि द्वारा रचे अनेक पद्यों में एक ही विषय की अभिव्यक्ति करने वाले मुक्तक काव्य को संघात मुक्तक कहा जाता है। विषय-प्रधान और विषयी-प्रधान संघात मुक्तक काव्य के दो भेद हैं। विषय प्रधान संघात मुक्तकों में एक ही विषय का आग्रह पाया जाता है जैसे 'सेनापति' का षट् ऋतु वर्णन तथा महाकवि 'देव' का 'अष्टयाम'। एक छन्द में ही वर्णन पूरा नहीं हो जाता बल्कि आगे के छन्दों में वर्णन को पूरा किया जाता है। विषयी-प्रधान मुक्तकों को प्रगीतमुक्त कभी कहा जा सकता है जिसमें कवि का स्वयं का अनुभव होता है। वह सृष्टि के उपादानों के साथ अपने रागात्मक सम्बन्ध की अभिव्यक्ति करता है।

एकार्थ प्रबन्ध मुक्तक—

प्रबन्ध मुक्तक काव्य के अन्तर्गत एकार्थ प्रबन्ध मुक्तक काव्य आता है। इसमें एक ही विषय को लेकर खंडकाव्य की सृष्टि की जाती है जिसमें कथा का विस्तार अत्यन्त लघु होता है तथा रचना पूर्णतः व्यक्तिनिष्ठ एवं भावप्रधान होती है। कालिदास कृत 'मेघदूत' और जयशंकर प्रसाद कृत 'आँसू' एकार्थ प्रबन्ध मुक्तक काव्य के सर्वोत्तम उदाहरण हैं।

मुक्तक प्रबन्ध—

प्रबन्ध मुक्तक काव्य का भेद होते हुए भी मुक्तक-प्रबन्ध काव्य प्रबन्ध मुक्तक से कुछ अंशों में भिन्न है। 'प्रबन्ध-मुक्तक' में यदि उपस्थापन शैली प्रबन्धात्मक होती है और वक्तव्य-विषय प्रगीतात्मक तो मुक्तक प्रबन्ध में उपस्थापन शैली मुक्तकात्मक होती है पर वक्तव्य विषय कथाश्रयी। इसमें कथा के मूल प्रसंग को लेकर मनमाने ढङ्ग से नवीन प्रसगो की उद्भावना करते हुए पद रचना की जाती है। महाकवि 'सूर' के जिन गीतों में 'भागवत' की कथाओं का आधार लिया गया है वे मुक्तक प्रबन्ध के सर्वोत्तम उदाहरण हैं।

१—हिन्दी मुक्तक काव्य का विकास—जितेन्द्र पाठक, पृ० २१।
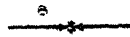
मध्यकालीन दरबारी सभ्यता में हिन्दी मुक्तकों का विकास

मध्यकाल—

मध्यकाल से हमारा यहाँ तात्पर्य हिन्दी साहित्य के मध्यकाल से है न कि भारतीय इतिहास के मध्ययुग अथवा मध्यकाल से। भारतीय इतिहास का संपूर्ण मध्ययुग जो अंतिम हिन्दू-सम्राट हर्षवर्द्धन से लेकर मुगल साम्राज्य के पतन-काल तक फैला है सामंती संस्कृति का काल है। भारतीय इतिहास के इस मध्यकाल के पूर्व की पन्द्रहवीं, सोलहवी शताब्दियों का इतिहास भी सामाजिक दृष्टि से सामन्तवादी ही था किन्तु उस काल की स्थिति मध्यकाल से सर्वथा भिन्न थी। पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी का भारतीय इतिहास सस्कृति, साहित्य एवं कला की दृष्टि से उत्थान का इतिहास है जिसके विपरीत मध्यकाल का इतिहास पतनशीलता का।

महात्मा बुद्ध के उदयकाल के पूर्व भारत की सामन्तवादी परम्परा जो रामायण और महाभारतकाल में रही वह महात्मा बुद्ध के बाद की सामन्ती सभ्यता में आकर बहुत कुछ बदल गयी क्योंकि बाद के सामन्त न तो पूर्व की भाँति जननायक रह पाये और न क्षेत्रीय कम शक्ति वाले सामन्तों के अस्तित्वों की रक्षा ही कर पाये। महात्मा बुद्ध के बाद से साम्राज्यवादी शक्तियाँ जोर पकड़ने लगीं जिनका विकास सम्राट हर्षवर्द्धन तक होता रहा। मौर्य साम्राज्य और गुप्त साम्राज्य के प्रतापी शासकों ने सभी क्षेत्रीय सामन्तों को जीतकर अपने साम्राज्य की सीमा का विस्तार किया था। साम्राज्यवादिता से भारतीय इतिहास में जो महत्त्वपूर्ण मोड़ आया उसने लोकप्रिय जननायक सामन्तो को जनजीवन से बहुत दूर कर दिया, जिससे उनके कानों तक लोकस्वर का पहुँचना अत्यन्त कठिन हो गया, जिससे ये दरबार लोकजीवन से बहुत दूर कलात्मकता पर आधारित थे जिनके लिये साधारण लोग ललचाई आँखों से देखते रहते थे। भारतीय साहित्य का यह वह काल है जिसने संस्कृत के काव्यों और नाटकों की गौरवशालिनी परम्परा दी है। मौर्य साम्राज्य के नष्ट हो जाने और भारत में विदेशी जातियों के घाल मेल हो जाने के कारण थोड़े समय के लिये भारत की ललित कलाओं एवं साहित्य में भारी व्यवधान उपस्थित हुआ क्योंकि देश पर बारबार विदेशी आक्रमण हो रहे थे जिन्हें रोकने में भारतीय शासक असमर्थ सिद्ध हो रहे थे, परिणाम स्वरूप समस्त देश में दुविधा, क्षोभ एवं भय व्याप्त था। इस काल में स्फुट रचनायें होती रहीं जिनमें से अधिकांश सामने भी न आ सकीं। ईसा की दूसरी या तीसरी शताब्दी के आसपास जब भारत में पुनः वैभव का प्रभात हुआ तो ब्राह्मण धर्म, संस्कृत साहित्य और भारतीय कलाओ की अभूत पूर्व उन्नति आरम्भ हुई। यह स्वर्णिम प्रभाव गुप्तवंशीय शासकों का राज्यकाल था जिसमें महाकवि कालिदास के अमर ग्रन्थ रचे गये।

गुप्तकाल में जिन भारतीय कलाओं ने मस्तक उठाया उनका विकास हिन्दू सम्राट् हर्षवर्द्धन तक बराबर होता रहा। कला का आग्रह क्रमशः इतना बढ़ता गया कि नैषधकार हर्ष तक जाते-जाते कलात्मकता में कालिदास की स्वाभाविकता एवं सरसता खो सी गयी। जैसा साहित्यिक अकाल मौर्य साम्राज्य के पतन काल से लेकर गुप्तकाल के उदयकाल तक संस्कृत साहित्य में पड़ा था ठीक वैसा ही दूसरा अकाल सम्राट हर्षवर्द्धन के पश्चात् पड़ा जहाँ पर संस्कृत से हिन्दी का मिलन होने वाला था। इस काल की जिन रचनाओं को हिन्दी के आदिकाल अथवा वीरगाथा काल के नाम से अभिहित किया गया है वे भी पूर्णतः प्राप्त नहीं हो सकी हैं जिससे एक निश्चित सीमा निर्धारण का कार्य अत्यन्त कठिन हो जाता है। हिन्दी काव्य को वास्तविक स्वरूप 'हिन्दी मध्यकाल' में ही मिला। अतः हमारे लिये अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि मध्यकालीन दरबारी प्रवृत्तियों को जानने के पूर्व हिन्दी मध्यकाल का सीमानिर्धारण कर लें।

हिन्दी साहित्य का मध्यकाल—

साधारणतः हिन्दी साहित्य के इतिहास को विद्वानों ने आदिकाल अथवा वीरगाथा काल, भक्तिकाल, रीतिकाल और अधुनिक काल के नाम से अभिहित किया है। हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल और रीतिकाल को पं० रामचन्द्र जी शुक्ल ने क्रम से पूर्व मध्यकाल और उत्तर मध्यकाल के नाम से अभिहित किया है। अतः भक्ति और रीतिकाल को मिलाकर हिन्दी साहित्य का मध्यकाल कहना अधिक समीचीन होगा। आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य के इतिहास को बीजवपन, अंकुरोद्भव और पत्रोद्गम नामक तीन कालों में ही विभाजित किया है। महाबीर प्रसाद द्विवेदी का 'अंकुरोद्भव' काल ही हिन्दी साहित्य का मध्यकाल है।

महावीर प्रसाद द्विवेदी के मध्य काल अथवा अंकुरोद्भव काल में सं० १४५७ से लेकर १९०७ तक की रचनाये आती हैं तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के वर्गीकरण के आधार पर मध्यकाल अथवा पूर्व मध्यकाल 'भक्तिकाल' और उत्तर 'मध्यकाल' 'रीतिकाल' के अन्तर्गत सम्वत् १३७५ से लेकर १९०० तक की रचनाये आती हैं। डा० हजारी प्रसाद जी द्विवेदी का वर्गीकरण भी 'शुक्ल जी' से ही मिलता-जुलता है। इस प्रकार पं० महाबीर प्रसाद जी द्विवेदी हिन्दी मध्यकाल को रामचन्द्र शुक्ल से ८२ वर्ष बाद आरम्भ करते हैं और ७ वर्ष बाद तक ले जाते हैं जिससे उसके विस्तार में केवल ७५ वर्ष का अन्तर पड़ता है।

पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा विभाजित मध्यकाल के अन्तर्गत विद्यापति से लेकर 'पद्माकर' तक की रचनायें रखी जा सकती हैं। इस काल की आरम्भिक कविताओं के स्वरूप और भाषा पर बहुत कुछ प्रभाव अपभ्रंश भाषा एवं साहित्य का रहा है जिससे मध्यकाल के आरम्भिक बहुत से संत कवि भी उस प्रभाव से अपने को अछूते नहीं रख सके हैं। इसके हटते हुए प्रभावों के साथ ही साथ हिन्दी कविता में कोमलता एवं अलंकरण की प्रवृत्ति आने लग गयी जिसका सम्वत् १९०० के आसपास कवि पद्माकर तक बराबर विकास होता रहा। जहाँ तक पूर्व मध्यकाल की आरम्भिक रचनाओं का प्रश्न है उन पर सम्वत् १५०० के लगभग आदि कालीन कविताओं का कुछ न कुछ प्रभाव दिखलाई ही पड़ जाता

है। उनमें लक्षण ग्रंथों तथा शृंगारिक अलंकारपूर्ण योजना उतनी तो नहीं है जितना कि उत्तर मध्यकाल अथवा पूर्वमध्यकाल के अन्तिम चरण में दिखलाई पड़ती है। हिन्दी कविता में अलंकार योजना तथा उसमें पूर्ण निखार सम्वत् १५०० के लगभग आया जिसका सम्वत् १९०० तक पूर्ण विकास होता रहा। इन सभी बातों को दृष्टि में रखते हुए यदि सम्वत् १५०० से लेकर १९०० तक को हिन्दी साहित्य का मध्यकाल मानें तो अनुचित न होगा।

सामंती संस्कृत—

हिन्दू साम्राज्य के पूर्णतः नष्ट हो जाने के बाद भारतीय राजनीति पारस्परिक कलह-पूर्ण संघर्ष और विदेशी आक्रमणों के बीच झूलती रही। एक भी ऐसी देशी रियासत नहीं रह गयी थी जिसकी जनता आत्मरक्षा की स्वतन्त्र सांस लेकर कला-कौशल की वृद्धि में सहायक होती। यह साहित्यिक दृष्टि से अकाल और राजनीतिक दृष्टि से चिन्ता का काल था, जैसा पूर्व में ही संकेत किया जा चुका है कि मौर्य साम्राज्य के पतन और गुप्त साम्राज्य के उदय के बीच संस्कृत साहित्य में जो स्थिति उत्पन्न हुई थी ठीक वैसी ही स्थिति हिन्दू साम्राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने पर हुई। जिस प्रकार गुप्त काल के शासकों ने देश की श्रीवृद्धि कर साहित्य और कला को नवजीवन प्रदान किया उसी प्रकार हिन्दी मध्यकालीन सामंतों की कलाप्रियता ने साहित्यकारों और कलाकारों में नवीन उत्साह और प्रेरणा का मन्त्र फूंका। अन्तर केवल देशी और विदेशी का था। भारतीय इतिहास के मध्यकाल के सामंत हिन्दू थे जिससे उनके द्वारा जिस संस्कृति और सभ्यता का बिकास हुआ वह पूर्णतः भारतीय थी किन्तु हिन्दी मध्यकाल के प्रमुख सामंत मुसलमान अथवा उनसे संरक्षित थे जिससे इस काल में जिस कला एवं संस्कृति को प्रोत्साहन मिला उसमें विदेशी मेल है।

बहुत से विदेशी आक्रामक तो ऐसे रहे जो भारत में केवल धन लूटने आये थे राज्य करनेनहीं। किन्तु गुलाम और खिलजी वंश के लोगों ने शासन भी किया। गुलाम और खिलजी वंश का भारतभूमि पर शासन (१२००–१४१२) लगभग २०० वर्षों तक रहा। इतने समय में राज-राजाओं की स्थिति बहुत कुछ बिगड़ चुकी थी। वे बिल्कुल निःशक्त हो गये हों ऐसी बात नहीं थी किन्तु उनकी सुदृढ़ता पूर्ववत् नहीं रह पाई थी। आपसी फूट का महान् रोग उनकी शक्ति के मूल में लग गया था और सम्राट पृथ्वीराज की पराजय से भी वे होश में नहीं आ सके थे। ऐसी ही परिस्थिति से चतुर महत्त्वाकांक्षी वीर सेनानी बाबर ने लाभ उठाकर भारत की स्वाधीनता को दीर्घ काल तक के लिये हथिया लिया। जिस समय बाबर ने भारत पर आक्रमण किया उस समय भी यहाँ राणा सांगा ऐसे वीर मौजूद थे जो प्रत्यक्ष युद्ध में अनेकों बार बाबर को पराजित कर सकते थे। पर वे करते कैसे, उन लोगों के ही आमंत्रण पर तो बाबर आया था और वे भी बेचारे क्या जानते थे कि बाबर आकर फिर जाने का नाम ही नहीं लेगा। उन लोगों ने तो उसे दिल्ली को मुस्लिम सल्तनत को उखाड़ फेंकने के लिये बुलाया था और सोचा था कि अन्य आक्रमणकारियों की भाँति वह भी हीरे-जवाहिरात लूट कर अपने देश लौट जायगा। बाबर का स्वप्न उसके जीवन की कल्पना भारत-देश, जिसके लिये वह कब से आस लगाये बैठा था, उसे पाकर क्या वह छोड़ देता? उसने दिल्ली सुल्तान को पानीपत के मैदान में पराजित किया और अपने पथ के एकमात्र बाधक राणा सांगा को फतेहपुर सीकरी के मैदान में सन् १५२७ ई० में। तब जाकर राजपूतों की आँखें

खुलीं। किन्तु समय हाथ से निकल चुका था क्योंकि राजपूतों का सूर्य राणा सांगा ढल चुका था, पराजित हो चुका था।

बाबर का सम्पूर्ण जीवन एक प्रकार से युद्ध में ही बीता और खुदा की मरजी से अपने प्यारे बेटे हुमायूँ की प्राणरक्षा में अल्पकाल में ही चल बसा जिससे वह जीते हुए भारतीय राज्यों की समुचित व्यवस्था न कर सका और हुमायूँ को परेशानियों का सामना करना पड़ा। भारत में मुगल साम्राज्य की नींव उस समय पड़ी जब शेरशाह द्वारा हार कर भागा हुआ हुमायूँ पुनः भारत लौटा। शेरशाह बड़ा ही योग्य शासक था किन्तु वह अपनी सारी शक्ति राजनीतिक व्यवस्था एवं भूमिसुधार आदि जनहित के कार्यों में खर्च करता रहा और आकस्मिक मृत्यु हो जाने के कारण उसे समय भी बहुत कम मिला जिससे उसके शासन-काल में साहित्यकला एवं संस्कृति की कोई विशेष उन्नति नहीं हो सकी। यद्यपि महाकवि जायसीकृत 'पद्मावत' शेरशाह के शासनकाल में ही रचा गया किन्तु उसका सम्बन्ध दरबारी सभ्यता एवं कला से नहीं बल्कि एक धार्मिक भावना से है जिसकी चर्चा आगे प्रसङ्ग आने पर की जायगी। हुमायूँ भी सन् १५५६ में महल की सीढ़ी से गिरकर मर गया जिससे वह भी शेरशाह की भाँति साहित्य एवं कला को कुछ भी देन नहीं दे सका। भारतीय साहित्य एवं कला का नवीन प्रभात उसी दिन हुआ जिस दिन दिल्ली के तख्त पर सम्राट अकबर आसीन हुआ। उसने अपने ५० वर्ष के शासनकाल में मुगल साम्राज्य की नींव इतनी दृढ़ कर दी कि आगे ३०० वर्षों तक मुगल सम्राटों ने जमकर सुख भोगा।

सम्राट अकबर की कलाप्रियता, उसके विद्याअनुराग, समन्वयवादी धार्मिक भावना तथा उदारवादी दृष्टिकोण ने भारतीय साहित्य-कला एवं संस्कृति में एक अद्भुत मोड़ उपस्थित किया। उसके सम्पूर्ण राज्य एवं रक्षित राजाओं की प्रजा में शान्ति व्याप्त थी, आक्रमणकारी बादल भारतीय गगन से छिन्न-भिन्न हो गये थे और देश धन-धान्य से पूर्ण होकर भोग-विलास की ओर तीव्रता से बढ़ने लगा। राजस्थान में मेवाड़ वंश की उन्नति के कारण हिन्दी कविता में वृद्धि तो अवश्य हुई थी किन्तु राणासंग्राम सिंह की हार से कविता की उन्नति में ठेस लग जाती यदि ब्रज के समीप आगरे में सहृदय सम्राट अकबर राजधानी को न उठा लाते। राजधानी और राजदरबार का ब्रज मण्डल के निकट आ जाना ब्रजभाषा की उन्नति के लिये दृढ़ कारण हो गया। अकबर के राजदरबार और दरबारियों में साहित्य की अच्छी चर्चा तथा कवियों और काव्य की खासी चहल-पहल रही। साहित्य सेवा की इच्छा से फारस और अन्यान्य देशों से आ आकर सहृदय कविराजधानी में बस गये। फारसी आचार-विचार भाव और काव्यशैली की उन्नति ब्रजभाषा और कविता के लिये सहायक हुई। ब्रजवासी सहृदय, प्रेमी सौन्दर्य के उपासक शृंगार के रसिक और माधुर्य के मधुकर थे। फारसी के प्रेमी भी ऐसे ही थे। उनके बीच एक प्रकार की मित्रता भी हो गयी। सम्राट और कुछ मुख्य सचिव, सेना नायक एवं राज कवि ब्रजभाषा के कवि हो गये।[1] अकबरी दरबार का हिन्दी काव्य प्रेम देखकर औरों में भी ब्रजभाषा का प्रेम बढ़ा। रक्षित छोटे-छोटे राजाओं और नवाबों के दरबारों में भी हिन्दी कविता की पहुँच हो गई क्योंकि ये लोग सीधे प्रेरणा अकबरी दरबार

[1] डा० रामप्रसाद त्रिपाठी—सरस्वती पत्रिका सं० १ जुलाई १६२०

से ही पाते थे और बड़े दरबारों की नकलें ही तो छोटी बैठकें होती हैं । मेवाड़ ऐसे जो राज्य पराधीन नहीं हो पाये थे वे धार्मिक जोश के कारण ही, जिससे उनमें हिन्दी प्रेम का होना स्वाभाविक ही था ।

इस प्रकार हिन्दी जिसे 'भाषा' के नाम से पुकारते थे, के कवियों के भाग्य खुल गये और उनका रहन-सहन ठाट-बाट साधारण स्तर से ऊपर राजा और नवाबों का सा रहने लगा । भाषा-कवियों के इस आशातीत सम्मान को देखकर अधिक से अधिक लोग इस ओर आकर्षित हुए क्योंकि इससे मनोरंजन तो होता ही था, साथ ही साथ आर्थिक लाभ की भी सम्भावना थी । अब हिन्दी के कविगण गलियों का चक्कर लगाने तथा ठोकरें खाने वाले नहीं रह गये थे, वे दरबार के रत्न थे और उन्हें सम्मान के साथ ही साथ धन भी मिलता था । इस समय तक भक्ति और शृङ्गार की कविता साथ-साथ चल रही थी जिसे हिन्दू और मुसलमान दोनों ही कवि रचते थे । सम्राट अकबर का शासनकाल हिन्दू सम्राज्य के बाद पहला शासनकाल था जिसने स्वस्थ सामंती वातावरण उत्पन्न करके साहित्य संगीत, कला एवं संस्कृति को पूर्ण विकसित होने का अवसर प्रदान किया । कवि होलराय ने ठीक ही कहा है–

दिल्ली ते न तख्त ह्वै है वख्त ना मुगल कैसो
ह्वै है ना नगर बढ़ि आगरा नगर ते ।
गङ्ग ते न गुनी तानसेन से न तान बाज
मान ते न राजा औ न दाता बीर बर ते ।
खान खान तेन नर नरहरि ते न
ह्वै है ना दिवान कोऊ बेडर टोडरते ।
नओ खण्ड सातदीप सातहू समुद्र पार
ह्वै है ना जलालदीन शाह अकबर ते ।।

जिन विभिन्न कलाओं का प्रभाव काव्य कला पर पड़ता है उन सभी कलाओं की व्यापक उन्नति सम्राट अकबर के शासनकाल में हुई । जिनका जहाँगीर और शाहजहाँ के शासन काल तक विकास होता रहा ।

अकबर केवल कलाओं को देखने में ही नहीं रुचि रखता था बल्कि उनके निर्माण की भी व्यवस्था करता था । उसने किशोरावस्था में ही चित्र-कारिता का अभ्यास किया था जिसके सम्बन्ध में जहाँगीर ने अपने आत्मचरित में एक मनोरंजक घटना का उल्लेख किया है । 'अकबर के सिंहासनासीन होने पर जब हेमू ने विद्रोह किया और तत्काल पकड़ा गया तो खानखाना के पिता बैरमखाँ ने जो अकबर का अभिभावक था, प्रार्थना की कि हजरत इस काफिर को मारकर गिरजा (धर्मयुद्ध) के पुण्य भागी हो । आपने फरमाया कि मै तो इसे पहले ही टुकड़े-टुकड़े कर चुका । काबुल में जब मैं ख्वाजा अब्दुस्समद शीरी कलम से चित्रकारी सीखता था तो एक दिन मेरी कलम से ऐसी तस्वीर निकली जिसके अंग प्रत्यङ्ग छिन्न भिन्न थे । एक पार्श्ववर्ती ने पूछा कि यह किसकी सूरत है तो मेरे मुँह से निकल पड़ा हेमू की ।·

अकबर द्वारा प्रोत्साहन मिलने के कारण चित्रकारी की अनेक कृतियाँ तैयार हुईं। फारसी की गद्य और पद्य रचनायें चित्रित की गईं। इस प्रकार की चित्रित कृतियों की संख्या बहुत अधिक थी। हम्जा के किस्से के चित्र बारह जिल्दों में तैयार किये गये। उसके समय के चतुर चितेरो ने उसमें के चौदह सौ प्रसंगों के अद्भुत चित्र तैयार किये। चंगेजनाम, जफरनामा, यह किताब (आइनेअकबरी), रज्मनामा (महाभारत), रामायण, नलदमन (नल-दमयन्ती), कलीलादमन (पंच तन्त्र), अयरा यानिश (पंचतंत्र का दूसरा अनुवाद) इत्यादिभी चित्रित किये गये।[1] इसके अतिरिक्त सगीत कला की जो उन्नति अकबर के दरबार में हुई उसके लिये इतिहास मुखर है। तानसेन की रागिनी इसी दरबार में गूँजी थी जिस पर सम्राट अकबर दिलो जान से फिदा था। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि सगीत और काव्य का अद्भुत समन्वय तानसेन द्वारा हुआ क्योंकि वह स्वयं कवि भी था और अपनी बनाई हुई कविताओं को ही सरगम पर स्वर देता था। इसके अतिरिक्त ललित कलाओं के प्रत्येक रूपों को विकास का समुचित अवसर इस दरबार ने प्रदान किया। इस प्रकार जिस दरबारी संस्कृति की स्थापना सम्राट अकबर द्वारा की गई उसमें हिन्दी कविता को कलात्मक बनने का पूर्ण अवसर मिला। सम्राट अकबर का दरबार कवियों एवं कला कारों से भरा था।

सम्राट अकबर ने तो किसी न किसी प्रकार साधारण जनता से अपना सम्पर्क बनाये रखा किन्तु उसके बाद के मुगल सम्राट वैसा न कर सके, जिससे मुगल दरबार कलाकारों और सामन्तों का जमघट सा बनकर रह गया। बड़ी मुश्किल से लोग दरबारी वैभव का आनन्द उठा सकते थे। जैसा निवेदन किया जा चुका है कि सम्राट अकबर की सुव्यवस्था के कारण देश में पूर्ण शान्ति बिराज रही थी, बिदेशी आक्रमणकारियों का बिल्कुल भय दूर हो गया था और धन-धान्य की कमी नहीं थी जिससे रक्षित राजे और नवाब अकबर के शासन काल में ही घोर विलासिता की ओर बढ़ने लग गये थे क्योंकि उन्हें आत्मरक्षा की भी चिन्ता नहीं थी, सारा का सारा दायित्व वे मुगल सम्राट पर डाल बैठे थे। इन सामन्तों और नवाबों की बैठके मुगल दरबार की नकल होने पर भी कभी कभी शान शौकत में उनसे बढ़ जाने की इच्छा रखती थी। इस प्रवृत्ति का पूर्ण परिचय हमें उस समय के सामती वातावरण में भी मिल जाता है जिस समय संस्कृत में अंलकृत काव्यों का चरम विकास हुआ था। उस समय की ऐसी स्थिति हो गयी थी कि कभी कभी रईसो का विकास समसामयिक राजाओं से भी बढ़ कर होता था इस बात का प्रमाण मिल जाता है। राजाओं को युद्ध, विग्रह, राज्य संचालन आदि अनेक कठोर कर्म भी करने पड़ते थे, पर सुराज्य से सुरक्षित समृद्धशाली नागरिको को इन झंझटों से कोई सरोकार नहीं था। वे धन और यौवन का सुख निश्चिन्त होकर भोगते थे।[2] इस सम्बन्ध मे एक अत्यन्त मनोरंजक कहानी भी प्रचलित है कि महाराज भोज के घर कवि 'माघ' एक बार अतिथि होकर गये और राजा के पूर्ण सम्मान करने पर भी उन्हें उस सम्मान से सुख न मिल सका, जिसका कारण जानने के लिए महाराजा भोज ने स्वयं कवि

१—भारत की चित्रकला—रायकृष्ण दास पृ० ३२

२—हजारी प्रसाद द्विवेदी—प्राचीन भारत का कलात्मक विनोद पृ० ६

माघ का अतिथि बनना चाहा। महल में प्रवेश करते ही 'माघ' के शौचालय से आती हुई धूप-चन्दन आदि की सुगन्ध को देख कर राजा को पूजा-गृह का भ्रम हुआ था। ठीक ऐसा ही वातावरण हिन्दी मध्यकालीन भारत में उपस्थित हो गया था जो सम्राट अकबर के बाद औरंगजेब तक बढ़ता ही गया।

मुगल सम्राटों के अनुरूप ही राजाओं, नबाबों और अमीरों ने अपने को ढाला। राजपूत राजाओं के द्वारा इस दरबारी सभ्यता का प्रचार राजस्थान में भी हो गया था। योरोप के यात्री लिखते हैं कि जितने ठाट से भारत के कुछ अमीर रहते हैं, उतने ठाट से यूरोप के शासक भी नहीं रहते। वे उनके मद्यपायी, चरित्र-हीन होने का भी उल्लेख करते हैं। जहाँगीर ने यह नियम बना दिया था कि अमीरों के मरने पर उनकी सम्पत्ति पर राज्य का अधिकार हो। इस कारण यद्यपि आसफ खाँ जैसे कुछ व्यक्ति मितव्ययिता के आधार पर धन इकट्ठा करते थे, परन्तु अधिकांश अमीर फ़िजूल खर्ची के शिकार थे और प्रायः कुछ सम्पत्ति छोड़ने के स्थान पर ऋण छोड़ कर जाते थे[1]।' इस युग के समाज में जिसे हम दरबारों अथवा नगरों का समाज कहेंगे बाहरी तड़क-भड़क तथा अलंकृत वस्त्राभूषण को अधिक सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। औरंगजेब को छोड़ कर सभी सम्राट आभूषणों का साज-शृंगार पसन्द करते थे। शाहजहाँ के समय में यह अपने चरम उत्कर्ष पर था। सम्राट स्वयं मयूर सिंहासन पर बैठता था। जो सुवर्ण का बना हुआ था तथा जिसमें अनेक बहुमूल्य रत्न सरुचि और सुन्दर कलात्मकता के साथ जड़े हुए थे। सर्वत्र एक अजीब गति, एक अजीब अदा दिखलाई पड़ती थी। मैंने पूर्व ही निवेदन कर दिया कि इन सामंती दरबारों को देख कर ही तत्कालीन भारत की राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक स्थिति का वास्तविक पता लगा लेना अत्यन्त कठिन है। ये सामन्त-दरबार वास्तविक भारत से नितान्त भिन्न थे। भारत का यह एक ऐसा समाज था जो भारत में रह कर भी भारतीय समाज से बिल्कुल भिन्न था। साधारण लोगों की स्थिति बिल्कुल भिन्न थी जिससे इन दरबारों में लिखी गयी कविताओं में जन साधारण का जीवन नहीं बल्कि सामन्ती जीवन अभिव्यक्त हुआ है। जिस प्रकार देश की विभिन्न परिस्थितियों में अनेकता थी उसी प्रकार हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियों में भी। लोक जीवन को अभिव्यक्ति देने वाली कवितायें भी हुई होंगी। किन्तु वे इसलिये आज उपलब्ध नहीं हैं कि उनकी रक्षा का कोई आधार नहीं था और न उन्हें सम्मान ही मिला होगा। सामंती दरबार एकमात्र कला के नाम पर कवि एवं कविता के आश्रयदाता थे जिससे साहित्यिक रूप उन्हीं कविताओं को मिल सका जो दरबारों मे अथवा दरबारों के लिए लिखी गई। इसके अतिरिक्त धार्मिक सम्प्रदायों को लेकर भी पूर्व मध्यकाल में रचनायें होती रही जो सख्या मे अत्यन्त न्यून हैं। इनके रचयिता ऐसे कवि थे जो स्वाभिमानी थे जिसके कारण दरबार का आश्रय ग्रहण नहीं करना चाहते थे या भक्त थे अथवा जिन्हे किसी कारण से दरबारो का आश्रय ही नहीं प्राप्त हो सका। यह अवश्य है कि हिन्दी साहित्य की मूल प्रवृत्ति मुक्तक काव्यों की ओर रही जिनमें शृंगार की प्रधानता थी और जो दरबारों या आश्रयदाताओं के रुख पर लिखी जा रही थीं।

१—अवधबिहारी पाण्डेय—मध्यकालीन भारत—पृ० ४६६

सामाजिक स्थिति—

जैसा ऊपर संकेत किया गया है कि विलासिता का वैभव इस काल में अपनी सीमापर पहुँचा हुआ था, दूसरी ओर साधारण लोगों की गरीबी भी कहीं-कहीं समय-समय पर अपनी सीमा का अतिक्रमण कर जाती थी। अमीर और गरीब, हिन्दी मध्यकालीन भारत के दो ऐसे छोर थे जो परस्पर कभी भी नहीं मिल पाते थे। अमीरो और गरीबो का पारस्परिक भेद जितना इस काल में बढ़ा हुआ था उतना पहले कभी भी नही था। धनी लोग पहले से भी कहीं अधिक धनी थे जो उस धन का उपयोग करने में पहले के लोगों से भी अधिक स्वार्थी थे और निर्धन पहले से भी अधिक निर्धन हो रहे थे और एक प्रकार से उनकी स्थिति असहाय की सो हो गयी थी। शाहजहाँ और औरङ्गजेब के समय में करों का बोझ अकबर और जहाँगीर से भो अधिक बढ़ गया और उस समय तक सरकारी कर्मचारी अकबर के समय की उदारता खोकर अत्याचार करने की कला में अधिक दक्षता प्राप्त कर चुके थे। इसलिये साधारण लोगों का सकट बहुत बढ़ गया था।

व्यापारियों की अपेक्षा किसानों से सरकारी खजाने को ११० गुनी आय होती थी[1]। किन्तु सरकार की ओर से उनके ऊपर अपेक्षाकृत सबसे कम रुपया खर्च किया जाता था। उनके पास अन्न-वस्त्र नहीं रहते थे परन्तु वे इस आर्थिक संकट के अभ्यस्त हो चले थे जिससे मोटा अन्न भी खाने को मिल जाने पर वे प्रसन्न रहते थे। इन किसानो की अवस्था सबसे खराब थी जो अपने तीन शत्रुओ द्वारा बराबर सताये जाते थे। राजकर्मचारी, प्रकृति की विनष्टकारी शक्तियाँ तथा जंगली जानवर, किसानों के प्रमुख तीन शत्रु थे। इस काल में तराई का जंगल अधिक दक्षिण तक फैला हुआ था और अनेक ऐसे स्थान जहाँ आज हरे भरे लहलहाते खेत नजर आते हैं उस समय पूर्ण अथवा आशिक रुप से घने जंगलों से आच्छादित थे। जिनमें गैंड़ा, जंगली भैसा, शूकर, हिरन, हाथी, नीलगाय आदि जंगली जानवर प्रचुर संख्या में बिचरते रहते थे। इन जंगली जानवरों के आक्रमणो से किसानों को विशेष क्षति पहुँचती थी। 'भारतवर्ष में अनेक जंगल सम्राट के आखेट बन थे। इसलिये वहाँ के जानवरों को मारने की अनुमति नहीं थी। अस्तु, राजकर्मचारियो के बाद राजा के संरक्षण में विचरने वाले जंगली पशु अबाध रूप से किसान का भोजन नष्ट करते रहते थे। तीसरे प्रकृति भी उसके पक्ष में नहीं रहती थी।[2]' ओले गिरने, अधिक वृष्टि तथा अनावृष्टि के शिकार किसान प्रायः हुआ करते थे ओर यातायात के द्रुतगामी साधनों के अभाव में उनको समय पर सहायता भी नहीं मिल पाती थी जिससे उन्हें भयंकर कष्ट भोगने पड़ते थे। दुर्भिक्ष तो इस काल में कई पड़े। 'अकबर के समय में सन् १५५५-५६ में पहला दुर्भिक्ष पड़ा। दिल्ली प्रायः वीरान हो गई और अनेक लोगों की मृत्यु हो गई 'बदायूनी' लिखता है कि मैंने स्वयं देखा था कि मनुष्य मनुष्यो को खा जाते थे और भूख से तड़पते लोगो को देखना भी एक यंत्रणा थी। प्रायः सर्वत्र क्षेत्र वीरान हो गया। सन् १५७३-७४ में गुजरात में दुर्भिक्ष पड़ा। उसी के बाद महामारी भी फैली। जहाँगीर के समय में इन्फ्लुएन्जा और प्लेग की बीमारियाँ हुई। शाहजहाँ के काल में सन् १६३०-३१ में एक दुर्भिक्ष पड़ा जिसका

१—अवधबिहारी पाण्डेय—मध्यकालीन भारत।
२—वही पृ० ४८६

प्रभाव दक्षिण में गोलकुण्डा और अहमद नगर तथा उत्तर में मालवा और गुजरात पर पड़ा। अब्दुल हमीद लाहौरी लिखता है कि लोग एक चपाती के लिए जान देने को तैयार थे, परन्तु चपाती देने वाला नहीं था। लोगों का कष्ट इतना बढ़ा कि वे सभी कुछ खाने लगे। कुत्तो की बारी पहले आई। इसके बाद अन्य जानवर मार डाले गये। अंत में लोग अपने बच्चों का मास भी खाने पर उद्यत हो गये।[1] इसी भाँति सन् १६४१ में काश्मीर में और सन् १६४६ में पंजाब में भी दुर्भिक्ष पड़े सन् १६५९,१६७०-७१-८२-१७०२-१७०४ में औरङ्गजेब के समय में भी दुर्भिक्ष पड़े परन्तु वे इतने भयंकर नहीं थे।

इस प्रकार हम देखते है कि सन् १५५५ से लेकर सन् १७०४ तक लगभग डेढ़ सौ वर्षों में बराबर कभी न कभी देश को अकाल का सामना करना पड़ता रहा, जिसका सीधा प्रभाव किसानों और साधारण लोगों पर ही पड़ा और यही मुगल काल का स्वर्ण युग था। वास्तव में यह सामन्तों और मुगल दरबारों के लिये स्वर्ण युग रहा होगा, देश के बहुसंख्यकों के लिये तो आर्थिक सकट का ही युग था। इस प्रकार हिन्दी मध्यकालीन भारत में दरबारो जिनमें राजे, नबाब और अमीर रहते थे तथा गरीबों जिनमें किसान तथा अन्य साधारण देशवासी थे, का दो प्रमुख वर्ग था जिनकी स्थिति में जमीन और आसमान का अन्तर था। इसके अतिरिक्त एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तीसरा वर्ग विद्वानों का था जो बादशाह, बड़े अमीरों और छोटे छोटे रईसों के आश्रय में रहते थे। कवि और विशिष्ट कलाकार इसी वर्ग के प्राणी थे। इस प्रकार कलावन्तों की स्थिति कुछ विचित्र थी। जन्म से इनका सम्बन्ध प्रायः निम्न और मध्यवर्ग से होता था, परन्तु रहते थे ये उच्च वर्ग के आश्रय में। अतएव यद्यपि इनके व्यक्तित्व का निर्माण दोनों वर्गों के विभिन्न संस्कारों से ही होता था फिर भी उससे प्रधानता उच्च वर्ग के संस्कारों और उसी की आशा-आकांक्षाओं की रहती थी, क्योंकि बाद में निर्धन जनता से इनका कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता था। निम्न वर्ग न तो इतना सम्पन्न ही था कि इतनी कृतियों का पुरस्कार दे सके और न इतना शिक्षित ही कि उनका रस ले सके[2]। परन्तु शाहजहाँ के बाद मुगलदरबार में कवि-कलाकारों की प्रतिष्ठा समाप्त सी हो गई। इन लोगों के लिये राजकीय आश्रय का द्वार भी बन्द हो गया जिसका यह परिणाम हुआ कि दिल्ली में लगा कवि एवं कलाकरो का जमघट छिन्न-भिन्न हुआ। वे दिल्ली दरबार को छोड़ कर विभिन्न राजाओं, सूबेदारों, नबाबो और रईसों के दरबार में बिखर गये। उनकी स्थिति पूर्ववत तो नहीं रह गई किन्तु जबतक इन छोटे छोटे राजों, नवाबों और अमीरों का अस्तित्व रहा कवि एवं कलाकार सामंती रुचि, शान और शौकत की राग अलापते रहे। यह स्थिति मुगल साम्राज्य के पतन काल के सम्वत् १९०० तक वर्तमान रही और हिन्दी मुक्तकों के प्रति कलात्मक आग्रह बना रहा जो भारत में अंग्रेजी राज्य के प्रवेश पाने पर समाप्त हुआ।

मुगल परिवार और दरबार में वैभव तथा ऐश्वर्य की प्रधानता—

सम्राट शाहजहाँ का दरबार अपेक्षाकृत कलाप्रियता एवं उसके विकास में अन्य मुगल सम्राटों से आगे था। उसके शासन काल में ही [illegible], ट्रैवर्नियर और मैमूची

१—अवधबिहारी पाण्डेय—मध्यकालीन भारत पृ० ४६०

२—डा० नगेन्द्र—रीतिकाव्य की भूमिका का पूर्वाद्ध।

आदि कई विदेशी भारत भ्रमण के लिये आये जो शाहजहाँ के दरबारी वैभव एवं ऐश्वर्य को देखकर चकित रह गये थे। उसका दरबार वैभव और ऐश्वर्य से जगमग था। बेगमों के बनाव-श्रृंगार की अदा से ही साथे हिन्दी कवियों को नायिकाओं को प्रेरणा मिलती रही होगी, इसमें सन्देह नहीं। बर्नियर लिखता है "मैंने मुगल हरम में प्रायः प्रत्येक प्रकार के जवाहिरात देखे हैं जिनमें बाज तो असाधारण है। वे इन मोती की मालाओं को कन्धों पर ओढ़नी की तरह पहनती हैं। इनके साथ दोनों तरफ मोतियों की कितनी ही मालाये होती हैं। सिर में वे मोतियों का गुच्छा सा पहनती है, जो माथे तक पहुँचता हैं और जिसके साथ एक बहुमूल्य आभूषण जवाहिरात का बना हुआ सूरज और चाँद की आकृति का होता है। दाहिनी तरफ एक गोल छोटा-सा गहना होता है, जिसमें दो मोतियों के बीच जड़ा हुआ एक छोटा सा लाल होता है। कानो में बहूमूल्य आभूषण पहनती है और गर्दन के चारों तरफ बड़े बड़े मोतियों तथा अन्य बहुमूल्य जवाहिरात के हार जिनके बीच में एक बहुत बड़ा हीरा, लाल, याकूत या नीलम और इसके बाहर चारो तरफ बड़े-बड़े मोतियो के दाने होते हैं।' एक शब्द में इन बेगमों का सारा शरीर जवाहिरातों से ढका हुआ होता था। इनकी पोशाकें बहुमूल्य और इत्र में बसी हुई होती थीं। दिन में अनेको बार ये वस्त्र बदलती थीं। मुगल दरबार के अमीरों और राजकर्मचारियो का जीवन भी कम ऐश्वर्यपूर्ण नहीं था। अधिकृत राजे भी अपने मुगल अधिपतियो का अनुगमन अपने को सजा कर रखने में करते थे। मुगल दरबार धरती पर दूसरी इन्द्र-सभा थी।

दरबार में जाने पर सर्वप्रथम सबसे अधिक जिसका प्रभाव पड़ता था, वह था उसके वैभव और ऐश्वर्य का। मुगल सम्राटों में औरंगजेब को छोड़ कर सभी वस्त्रो तथा आभूषणों के साज-श्रृंगार पसन्द करते थे। यह प्रवृत्ति शाहजहाँ के समय में अपनी चरमसीमा पर थी। शाहजहाँ स्वयं सुसज्जित मयूर सिंहासन पर बैठता था जो सुवर्ण का बना हुआ था तथा जिसमें अनेक बहुमूल्य रत्न सुरुचि और सुन्दर कलात्मकता के साथ जड़े हुये थे। दीवान आम और दीवान खास के कक्ष विशेषकर दिल्ली में अपनी उत्कृष्ट पच्चीकारी से तो दर्शक का ध्यान आकर्षित करते ही थे उसके ऊपर से स्वर्णिम करचोबी लिये हुए रेशमी पर्दे, झालरें आदि उसकी शोभा को और भी बढ़ा देते थे। नीचे हजारों रुपये की मूल्यवाले मखमली कालीन बिछाये जाते थे जिनमें सुन्दर दृश्य अंकित रहते थे। सम्राट हीरे-मोती-रत्नाभरण के प्रभाव से जगमग-जगमग करता था उसके दरबारी तथा मंत्री भी हजारो रुपये के लागत के कपड़े तथा आभूषण पहने, रंगबिरंगी, पगड़ियाँ बाँध अपनी आनबान से उपस्थित होते थे। सम्राट के सिंहासन के ऊपर का छत्र भी सुवर्ण तथा रत्नों से सजा होता था और अमीरों का व्यवस्थित, मंत्रियों का गम्भीरतापूर्वक हिलना-डुलाना तथा सम्राट के प्रति अत्यन्त विनम्रता और श्रद्धा से व्यवहार करना, सेवको का चुस्ती के साथ खड़े रहना और रत्ती-रत्ती भर वस्तु का ठीक ढंग से सजाया जाना अत्यन्त प्रभावोत्पादक होते थे। सभी अवसरों पर दी जाने वाली खिलतें-बहुमूल्य कपड़ों और सोने-चादी की जरी के काम की होती थीं। जड़ाऊ तलवारों, कटारों तथा आभूषणों को भी उपहार या इनाम के रुप में दिया जाता था।[१] औरंगजेब के बाद जब मुगल साम्राज्य की समृद्धि का क्षय होने लगा तो

१—अवधबिहारी पाण्डेय-मध्यकालीन भारत।

दरबार का वास्तविक वैभव तो नहीं रह गया किन्तु उसका स्थान वैभव के प्रदर्शन ने लिया जो घोर पतन का सूचक था।

विलास तथा इन्द्रिय लोलुपता—

ऐश्वर्य और वैभव के क्रोड़ में ही विलास पलता है जिसकी रंचमात्र भी कमी इस समय नहीं थी। चलना, फिरना देखना, हँसना, बोलना, खाना, पीना, भेंट लेना, स्वीकार करना, इन्कार करना सबकी एक विधि थी जिसे राजमहलों से सम्बन्धित लोगों को कला के रूप में सीखना पड़ता था। हिन्दी मुक्तकों में इस दरबारी सभ्यता के प्रभाव को छाया देखी जा सकती है:—

'बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै भौहनि हँसै देन कहै नटि जाय॥

: बिहारी :

जिन लोगों को दरबार की इस व्यवहारिक कला का ज्ञान नहीं था जो दैनिक जीवन में प्रयुक्त की जाती थीं उन्हें दरबारी लोग जंगली, ग्राम्य, असभ्य अतएव हेय तथा उपहास्य समझते थे यद्यपि साधारणतः वे इन भावों को शब्दों द्वारा नहीं वरन् आकृति की सयत् भाव-भँगियों द्वारा ही व्यक्त करते थे।

सेवक सेविकाओं की संख्या वृद्धि तथा उनको विभिन्न देशों से इकत्रित करने में भी इसी वैभव और ऐश्वर्य के प्रदर्शन की इच्छा विद्यमान रहती थी। 'दरबार' में एक ओर ऐसी बलिष्ठ नारी परिचारिकायें थीं जो अस्त्र-शस्त्रों के उपयोग में निपुण तथा पहरेदारी के कार्य में मुस्तैद थीं और दूसरी ओर अत्यन्त सुकोमल सुन्दरियाँ थीं जो बहुधा न तो रनिवास की स्त्रियों की भाषा समझती थीं और न जिनकी भाषा दरबार में सिवाय दुभाषियों के कोई दूसरा समझता था। इन सेवक सेविकाओं के रूप, यौवन, गुण, पद आदि के हिसाब से वेतन तथा कार्य में पार्थक्य रहता था।[1] मुगल दरबार में विलासिता का राज्य था। सम्राटों के रनिवासों पर किया जाने वाला खर्च प्रतिवर्ष करोड़ों रुपया था। विधिवत परिणीता रानियों की संख्या सर्वदा बहुत बड़ी नहीं होती थी परन्तु रक्षिताओं को मिलाकर उनकी संख्या कई सौ हो जाती थी। उनके अतिरिक्त अन्तःपुर में अनेक ऐसी दासियाँ रहती थी जिनको किसी भी समय रक्षिता का पद प्राप्त हो सकता था। 'बर्नियर' के साक्ष्य के अनुसार राजमहलो में भी भिन्न वर्णों और जातियों की २००० स्त्रियाँ रहती थीं, जो बादशाह और शाहज़ादियों की सेवा करती थीं। शिक्षा प्रायः आशिकाना गज़लों, फारस की अश्लील प्रेम कहानियों आदि की ही होती थीं। इनमें से बुड्ढी स्त्रियों से जासूसी का काम लिया जाता था। ये कुटनियाँ स्थान-स्थान से सुन्दरी स्त्रियों को धोखे फरेब देकर या लालच से महलों में ले आती थीं। रीतिकाव्य की दूतियाँ बहुत कुछ इनका ही प्रतिरूप थी। औरङ्गजेब ने इस अतिचार को बन्द करने का प्रयत्न किया। परन्तु कुछ ही वर्ष बाद मुहम्मद शाह रंगीले के शासन काल में मदिरा का पनाला बह निकला।[2] इस काल में दरबार ललित

१—अवधबिहारी पाण्डेय—मध्यकालीन भारत, पृ० ४६६

२—रीतिकाव्य की भूमिका—डा० नगेन्द्र पृ० १३।

कलाओं का कीड़ास्थल हो गया था, शतरंज, चौसर और गंजक के खेल अन्तःपुर में मनोविनोद के साधन बन गये थे जिनका दौर बराबर चलता रहता था।' बाहर शिकार या पतंग बाजी। तरह तरह के पशु पक्षी-कबूतर, लाल तोता मैंना आदि के स्वरों से रनवास गूँजते रहते थे। अकबर के जमाने की हाथी और चीतों की लड़ाई का स्थान अब बाज और सिकरों की लड़ाई ने ले लिया था[1]' कविवर बिहारी अवश्य ही इस काल की आशिक मिजाजी से परिचित थे—

: १ : 'उड़त गुड़ी लखि लाल की अँगना अँगना माँह।
बौरी लौ दौरी फिरति, छुवति छबीली छाँह॥

: २ : ऊँचै चितै सराहियत गिरह कबूतर लेतु।
झलकति दृग, मुलकित बदन, तन पुलकित किहि हेतु॥

: सतसई :

शाहजहाँ के सम्बन्ध में विलास सम्बन्धी अनेक कथाये प्रचलित थीं।[२] सम्राट तथा राजकुमारों को बैध तथा अबैध ढङ्ग से अनेक कामिनियों द्वारा अपनी भोग-वासना चरितार्थ करने की सुविधा थी। किन्तु राजकुमारियों की अवस्था इस दिशा में अत्यन्त चिन्ताजनक थी क्योंकि उनका बहुधा एक पुरुष से भी विवाह होना दुर्लभ होता था। हम कदापि यह नहीं कह सकते कि रनिवास का वातावरण संयम और सतीत्व का पोषक था। नारी आदर की वस्तु नही बल्कि विलास की सामग्री थी। वंश और गुणों से अधिक महत्व उसके यौवन और रूप लावण्य का था। देश की परिस्थिति ज्यों ज्यो बिगड़ती गयी, विलास के साधन भी त्यों त्यों अधिक अस्वस्थ होते गये जिससे नारी के प्रति समाज का मानस पूर्णतः विकृत हो गया था। जिससे नारी का सामाजिक सम्मान बहुत घट गया था। वह माता और गृहलक्ष्मी न रह कर क्रीत वेश्या बन गयी। सम्राटों एवं अमीरों तथा सामन्तों के चरित्र से पूर्ण परिचित उनकी स्त्रियाँ, रक्षितायें, पुत्रियाँ तथा दासियाँ सीता और सावित्री बन कर रहतीं यह मानव प्रकृति के अनुसार कदापि सम्भव नहीं था। वासना की मादक मदिरा में आकण्ठ डूबे नर-नारी आलिंगन के झूले पर अपने अलसाये नयनों से मदिरा की अरुणिमा में अपनी कामातुर छाया को छोड़ कर और कुछ भी नहीं देखना चाहते थे। समाज में कंचन, कामिनी और कादम्ब का व्यापक प्रयोग हो रहा था जिससे राजमहलों में घोर पर्दा और कठोर नियन्त्रण रहने पर भी अनाचार ओर व्यभिचार बहुत था।

१—रीतिकाव्य की भूमिका—डा० नगेन्द्र पृ० १३।

२—अकबर के राज महल में कुल मिलाकर ५००० स्त्रियाँ थीं। सम्राट के अमीर भी उनका अनुकरण करते थे और राजा मानसिंह कछवाहा के विषय में कहा जाता है कि उसके १५०० पत्नियाँ तथा ४००० पुत्र थे। राज परिवार में भी अवैध सम्बन्ध हो जाते थे और जहाँ संभव होता था विवाह द्वारा उनको ढकने की चेष्टा की जाती थी। परन्तु अनेक लोगों के विषय में अत्यन्त गन्दे किस्से प्रसिद्ध थे। विदेशी यात्रियों ने इनका खासा संकलन तैयार किया है। परन्तु उनमें कुछ निश्चय ही झूठ है—यथा शाहजहाँ का अपनी बेटी जहाँनारा से अनुचित सम्बन्ध।
: मध्यकालीन भारत—अवधबिहारी पाण्डेय—पृ० ४६७।

दरबारी रौनक में कला और संस्कृति का विकास तथा उस पर विदेशी प्रभाव—

मुगल सम्राटों की दरबारी रौनक पर फारसी सभ्यता का प्रभाव छाया हुआ था और उनके दरबारों में सदैव अनेक विदेशी अमीरों का जमघट रहता था। अनुपात की दृष्टि से देशी मुसलमान तथा राजपूतों की अपेक्षा विदेशी अमीरों की संख्या सदा अधिक रहती थी जिससे दरबारी जीवन पर व्यापक प्रभाव उन्हीं का पड़ता था। एशिया के अन्य दरबारों का विवरण वे सम्राट को सुनाते थे जिससे सम्राट उनके कुछ आकर्षक तत्त्वों को अपने दरबारी जीवन में सम्मिलित कर लेते थे। विदेशी मदिरा, विदेशी फल, मूल्यवान विदेशी वस्त्र, विदेशी कालीन आदि की प्रचुर मात्रा में खपत दरबार में होती थी। चतुर रसोइये भी शाही रसोई-घर में विद्यमान थे जो उत्सव के विशेष अवसरों पर अपनी पाक-कला का कमाल दिखाते थे। इनकी कलात्मकता को देखकर लोग हैरत में पड़ जाते थे। अवधविहारी पाण्डेय ने अपने 'मध्यकालीन भारत' नामक पुस्तक में इस प्रसंग का बड़ा ही रोचक वर्णन प्रस्तुत किया है[१]।' इन सारे प्रदर्शनो के मूल में सम्राट की वह इच्छा थी जिसके द्वारा वह विदेशी दूतों को दिखला देना चाहता था कि वह धन, ऐश्वर्य, सभ्यता, संस्कृति, सुरुचि तथा साधनो में विदेशी शासकों से बढ़ कर है और वह दिखा देना चाहता था कि विदेशों में जो वस्तुयें अंश-अंश में मिलती है, वे सब उसके पास एक साथ ही मौजूद हैं और उनके अतिरिक्त भारतवर्ष के साधन भी उपलब्ध हैं। विदेशियों की रुचि और पसंद को दृष्टि पथ में रख कर उन्हें चकित एवं आतंकित करने के लिए सम्राट अपने दरबार और राजमहल का संगठन करता था।

यह निर्विवाद स्वीकार करना पड़ेगा कि मुगल राज्य के वैभव का युग कला के वैभव का भी युग था। इस काल में ललित और उपयोगी दोनों ही प्रकार की कलाओं ने अभूतपूर्व उन्नति की। मुगल शासकों ने राज्य का सभी धन-भोग-विलास में अथवा सभी समय केवल कामवासना की तृप्ति में ही नहीं व्यतीत किया। उन्होने उस धन का प्रयोग कवियो, संगीतज्ञों, विद्वानों, चित्रकारों तथा अन्य कलाकारों को प्रश्रय देने में भी किया। यद्यपि यह कार्य भी उन्होंने प्रमुखतः अपने दरबार की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए ही किया किन्तु अनजाने हो इससे देश को भी लाभ हुआ। 'कलाप्रिय मुगल सम्राटों ने फारसी और हिन्दू शैली के सम्यक् संयोग से विलासपूर्ण मुगलशैली का निर्माण किया जिसकी छाप तत्कालीन स्थापत्य, चित्रण, आलेखन आदि ललित कलाओ और जवाहरात, सोने-चाँदी के काम, कढ़ाई बुनाई इत्यादि पर भी स्पष्ट अंकित है। इन सभी मे ऐश्वर्य का उल्लास है[२]।'

स्थापत्य कला की दृष्टि से शाहजहाँ का शासन काल सर्वोत्तम कहा जा सकता है। उसके दृढ़ रसिक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का सफल माध्यम संगमरमर की रेशमी कठोरता ही

१—कभी कभी एक एक हजार प्रकार के व्यजन परोसे जाते थे। इनमें विदेशी व्यजनों की ही अधिकता रहती थी। खाने के सुन्दर बर्तन भी भिन्न भिन्न देशों से मँगाये जाते थे। अनेक सोने चाँदी की कला-पूर्ण रकाबियाँ, प्याले, कटोरियाँ आदि सरकारी कारखानो में भी तैयार की जाती थीं विशेष अवसरों पर इस समस्त भाण्डार का वैभवपूर्ण ढग से प्रदर्शन किया जाता था।—अवधविहारी पाण्डेय-मध्यकालीन भारत :

२—डा० नगेन्द्र—रीतिकाव्य की भूमिका पूर्वार्द्ध।

हो सकती थी। उसने आगरे में मोती मसजिद और ताजमहल का निर्माण किया और अपने राजत्व काल के उत्तरार्द्ध में दिल्ली के लालकिले के स्वर्गिक प्रासादों का। कपोल पर स्थित नयन-बिन्दु ताजमहल और पृथ्वी के एक मात्र स्वर्ग दीवाने खास की कलात्मक समृद्धि अपरिमेय है[१]। स्थापत्य कला की भाँति ही मुगल चित्रकला भी फारसी और भारतीय कलाओं के सयोग से निर्मित है। फिर भी यह स्मरण रखना चाहिये कि इस समय की जो कलात्मक एवं सास्कृतिक उन्नति है, वह प्रधानतः नगरों और विशेषकर राजधानी में ही केन्द्रित रही। राज परिवार की अनेक महिलाये भी बहुत परिष्कृत रुचि वाली थी और सलीमा बेगम, जहाँआरा, रौशनआरा, नूरजहाँ, जेबुन्निसा आदि अनेक महिलायें ऐसी थीं जिन्होंने कविता और साहित्य का अच्छा ज्ञान अर्जित किया था। इस काल की कविताओं में मुख्यतः जीवन में प्राप्त वैयक्तिक अनुभवों को ही महत्त्व दिया जाता था। राजकुमारी जेबुन्निसा का प्रसिद्ध कथन है कि 'यदि तुम मुझे देखना चाहते हो तो मुझे मेरी शायरी में देखो।'

हिन्दी मुक्तक काव्य और मध्यकालीन दरबार—

मध्यकालीन दरबारी एवं सामन्ती संस्कृति ने किस प्रकार ललित कलाओं के विकास में महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया इसकी चर्चा की जा चुकी है। मुगलकालीन कलात्मक प्रवृत्तियों का समुचित प्रभाव हिन्दी मुक्तक काव्य पर पड़ा है। हिन्दी काव्य में सस्कृत साहित्य से होता हुआ अथवा प्रभावित तथा अपभ्रंश एवं लोकसाहित्य के रस से सिंचित मुक्तकों का शिथिल प्रवाह तो चला आ रहा था किन्तु उसे गीत और स्वस्थ स्वरूप मध्यकालीन दरबारी सभ्यता से ही मिला। शाश्वत शृंगारिक भावनाओं के कारण हिन्दी मुक्तकों का अस्तित्व तो था किन्तु उन्हें पुष्पित एवं पल्लवित होने का अवसर सामन्ती सस्कृति में ही मिला क्योंकि सम्राटों, अमीरों, सामन्तों एवं नबाबों की बैठके ही मुक्तक काव्यों के लिये सबसे अधिक उपयुक्त ठहरती हैं। कलागत इन सभी उपयोगी तत्त्वों एवं सुविधाओ का लाभ हिन्दी काव्य ने उठाया है।

हिन्दी मुक्तक काव्य के माध्यम से एक ऐसे कलात्मक तत्त्व की अभिव्यक्ति हुई जो हिन्दू और मुस्लिम दो भिन्न कलाओं से निर्मित हुआ था। हिन्दू और मुस्लिम दोनों कलाओं के प्रभावित करने के ढंग में अन्तर है। एक अपनी विराटता एवं विशालता के कारण अभिभूत किये बिना नहीं रहती तो दूसरी अपनी सूक्ष्म सुकुमारता के कारण आकर्षण का कारण बनती हैं। हिन्दू वास्तु का प्रभाव आकार की विराटता के कारण पड़ता है, मुस्लिम वास्तु का तफसीली, बारीकी के कारण। एक में शक्ति की शोभा है तो दूसरे में सौन्दर्य का सम्मोहन। हिन्दू निर्माताओं में राग था, उद्वेग और उद्दामता थी तथा उनकी उर्वरता का स्रोत कभी सूखता नहीं था। मुस्लिम निर्माताओं में रुचि थी, कला से आनन्द लेने की उमंग थी और उद्दामता को वे नियंत्रण में रख सकते थे। हिन्दू वास्तु में पौरुष और प्रताप का तेज है तो मुस्लिम स्थापत्य में रंजकता की लहर उठती है किन्तु विराटता, रंजकता की अपेक्षा अधिक प्रभावशालिनी होती है। इसीलिये भुवनेश्वर, तंजोर और बोरोबुदुर (जावा) के मन्दिरों के पार्श्व में ताजमहल वैसा ही लगता है जैसे

१—डा० नगेन्द्र-रीति काव्य की भूमिका।

नाटकों के बगल में संगीत, जैसे बाल्मीकि के पार्श्व में कालिदास, जैसे तुलसी के पार्श्व में बिहारी या घनानन्द।[1] मुस्लिम संस्कृति की जवानी और भावुकता ने चित्र एवं स्थापत्य कला में जो रंजकता उत्पन्न की उसी ने हिन्दी मुक्तकों में भी शराबी तुर्शी एवं सुकुमारता ढाल दी। इसी से हम देखते हैं कि मध्यकाल में हमारे यहाँ जो भी साहित्य लिखा गया उसमें फारसी और उर्दू जितनी तो नहीं, किन्तु पहले से कुछ अधिक भावुकता अवश्य आयी।

इस काल के अधिकाश प्रमुख काव्यकार दरबारी थे जिससे राजमहलों की श्रृंगारिक प्रवृत्ति का काव्य पर भरपूर प्रभाव पड़ा। जिन दरबारो में इन कवियो को आश्रय मिला था अथवा जिनमें उन्होंने अपनी रचनायें की थीं उनके दो वर्ग थे जिसमें एक तो मुगल सम्राट और उनके अमीरों तथा नवाबों का था और दूसरा छोटे-छोटे हिन्दू राजाओं का। एक में उर्दू और फारसी के शायरो और विद्वानों का जमघट था तो दूसरे में सस्कृत के विद्वानों के सम्मुख खड़ा होना था जो उनके लिये एक बहुत बड़ी समस्या थी।

दरबारो में अन्य विषयो की अपेक्षा श्रृंगारिक विषयों को अधिक समादर मिलता था जिससे दरबारों में सम्मान पाने वाली कविताओ का भी प्रतिपाद्य विषय श्रृंगारिक ही था। देशी दरबारों अथवा सभाओं में 'हिन्दी के कवियों को अपना चमत्कार दिखाने में संस्कृत के पंडितों से जोड़-तोड़ भिड़ाना पड़ता था और मुसलमानी दरबारों में भी अपना रंग जमाने में फारसी या उर्दू के शायरों से मोर्चा लेना पड़ता था। संस्कृत वाले श्रृंगार की मुक्तक रचना लाते थे, जिसमें वे नायक-नायिकाओं का, ऋतुवर्णन, नख-शिख आदि की छटा दिखाते थे, हिन्दी वालों को भी वही करना पड़ता था। नरेश ही नहीं छोटे-छोटे तालुकेदार और जमींदार तक ऐसी रचना के शौकीन हो गये थे। कवि कर्म करने वालों के ये ही तो आश्रयदाता थे। मुसलमानी दरबारो में फारसी की रचना प्रेम का ही बंधा-बंधाया विषय (थीम) लेकर चलती थी। उसके जोड़ में भी हिन्दी कवियो ने श्रृंगार या नायक-नायिका भेद की रचना सामने की। उधर से वे शेर पढ़ते थे या गजल गाते थे इधर से ये कवित्त, सवैया या दोहा भनते थे। मुक्तक रचना के आधिक्य का प्रमुख कारण यह दरबारदारी ही है, क्योंकि मुक्तक द्वारा ही थोड़े रस के छींटे उछाले जा सकते थे। दरबारी कवियो ने प्रबन्ध को छूआ तक नही, उनका काम मुक्तकों से ही चल जाता था[2]।" इस प्रकार मुसलमान कवियों का प्रभाव केवल हिन्दी काव्य की प्रवृत्ति और उसके रूप पर ही पड़ा जान पड़ता है क्योंकि उसका विषय संस्कृत काव्यों में वर्णित विषय से दूर नहीं जा सका है। नायक-नायिकाओं को लंक्ष्य करके लिखा श्रृंगारपरक साहित्य संस्कृत काव्यो में अपनी पराकाष्ठा को पहुँचा है। 'वात्स्यायन' के 'कामसूत्र' तथा 'भरतमुनि' के 'नाट्य शास्त्र' ने समस्तहिन्दी-रीतिकालीन काव्य की नायिकाओं का मार्ग प्रदर्शन किया है।

हिन्दी मुक्तक काव्य परम्परा पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव—

पूर्व ही उल्लेख कर दिया गया है कि हिन्दी मुक्तको में मुख्यतः विषय चयन की दृष्टि से संस्कृत मुक्तकों अथवा काव्यों की उद्धरणी हुई है। संस्कृत काव्यों के समाप्ति काल और

१—संस्कृति के चार अध्याय—दिनकर।

२—बिहारी—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र।

हिन्दी काव्यों के आरम्भकाल के बीच का जो समय है उसमें अपभ्रंश भाषा में रचनायें होती रहीं तथा असंख्य लोकगीत लिखे गये जो उपलब्ध नहीं हो सके। कुछ विद्वान अपभ्रंश भाषा को हिन्दी का आरम्भिक रूप मानते हैं। किन्तु इसमें तो सन्देह नहीं कि हिन्दी काव्यधारा अपभ्रंश से ही फूटी। हिन्दी कवियो के लिये भाषा का जितना प्रश्न था उतना विषय का नहीं, क्योकि संस्कृत साहित्य का अक्षय भण्डार उनके सम्मुख था ही जिससे उनका पूर्ण संपर्क था। हिन्दी के अधिकाश कवि संस्कृत के भी विद्वान थे जैसे तुलसी तथा केशव आदि, किन्तु उन्होंने अपनी रचनायें हिन्दी में ही की क्योंकि संस्कृत-काव्य निर्माण का युग नहीं रह गया था और साधारणतः संस्कृत कवियों के लिये न तो आर्थिक लाभ की ही सम्भावना रह गयी थी और न तो यश एवं सम्मान की ही। एक एक श्लोक पर कवियों को मालामाल कर देने वाले भोज और विक्रम के दरबार समाप्त हो चुके थे और उनके स्थान पर यवन सम्राटों की राजसभाये थी जिनमें हिन्दी कवियों के लिये प्रवेश पाना भी कठिन था। संस्कृत सीखना मुसलमानों के लिये सबसे कठिन काम था जिसका मुख्य कारण भाषा की व्याकरण सम्बन्धी दुरूहता एवं हिन्दुओं के प्रति उनके उपेक्षापूर्ण भाव थे।

भारतवर्ष में अनेक जातियाँ आईं और अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं के साथ भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता में मिलकर भारतीय हो गईं किन्तु मुसलमान एक ऐसी जाति थी जिसने अपने को हिन्दुओ से सदैव अलग रखा। क्योंकि उनका आगमन ही धार्मिक दुराग्रह के साथ हुआ था जिसे वे हिन्दुत्व को मिटाकर स्थापित करना चाहते थे। ऐसी परिस्थिति में संस्कृत सीखना उनके लिये कदापि सम्भव नहीं था क्योकि उसमें हिन्दू जाति की संस्कृति, सभ्यता, दर्शन एवं चिन्तन का अपरिमेय कोष रक्षित था। नही तो कोई कारण नही था कि संस्कृत ऐसी समृद्ध भाषा का दामन भारतीय सहसा छोड़ बैठते जबकि हिन्दी काव्य की युवावस्था शाहजहाँ के शासन काल तक पंडितराज जगन्नाथ ऐसे संस्कृत के महान पंडित वर्तमान थे। पंडितराज जगन्नाथ का अनुपम शास्त्र ग्रन्थ 'रस गंगाधर' मुगल सम्राट शाहजहाँ के काल में ही रचा गया था जिसके उपलक्ष्य में बादशाह ने ससम्मान रचयिता को पंडित-राज की उपाधि प्रदान की थी। इस समय हिन्दी कवियों के जीवन-मरण का प्रश्न था। उन्हें अपने अस्तित्व और भारतीय प्राचीन संस्कृति एवं साहित्य की साथ साथ रक्षा करनी थी जिसके लिये उन्होने हिन्दी काव्य को माध्य बनाया था। मुगलकालीन दरबारी तत्त्वोंकी पूर्ण-रूपेण प्रतिष्ठा अपने काव्यों में करते हुए हिन्दी मुक्तककारों ने संस्कृत काव्य की समस्त सामग्रियो को लाने का प्रयत्न किया। श्रीमद्भागवत के 'कृष्ण' ही युवती राधा के साथ हिन्दी शृंगारी कवियो के भी नायक हुए जिससे भक्त लोग परमानन्द और रसिक लोग शृंगार की कामना रखते थे।

आचार्य कवि 'केशव' ने सबसे अधिक इस प्रश्न को समझा था और उन्हें स्पष्ट रूप से इसका ज्ञान हो गया था कि थोड़े ही समय बाद एक समय ऐसा आयेगा जब कि हिन्दी कवि चमन और बुलबुल के बीच ही दिखलाई पड़ेंगे और भारतीय साहित्य की समस्त सामग्री शराब की सुर्खी में डूब जायगी। 'केशव' संस्कृत के महान पंडित एवं आचार्य थे और हिन्दी में रचना करते समय उन्हें संकोच का अनुभव हो रहा था—

'भाषा बोल न जानहीं, जिनके कुल के दास।
भाषा में कविता करी, जड़मति केशवदास ॥

उन्होंने हिन्दी काव्यशास्त्र को एक परम्परा का इसीलिये रूप देना चाहा कि इसी बहाने संस्कृत काव्य की अमूल्य सामग्री क्रमशः हिन्दी काव्य में आ जायगी और साधारण कवियों को काव्य रचना का उससे निर्देश भी मिलता रहेगा। यही कारण है कि जो लोग आचार्य केशव के काव्य की आत्मा को नहीं समझ पाते वे लोग उसमें मौलिकता का अभाव देखते हैं और उन्हें हृदयहीन बतलाते हैं। आचार्य केशव का मुख्य उद्देश्य संस्कृत काव्य की उपादेय सामग्रियो को हिन्दी में सर्व सुलभ बनाना था।

सस्कृत भाषा की अपेक्षा हिन्दी सरल थी और उसमें व्याकरण सम्बन्धी दुरूहता भी नहीं थी जिससे शीघ्र ही उसे दरबारों में सम्मान मिलने लगा जिसकी चर्चा की जा चुकी है। इस काल में भी 'स्वाधीन और अर्द्धस्वाधीन भारतीय राज्यो में सस्कृत साहित्य का पठन पाठन पहिले के ही समान होता रहा और काव्य अलंकार, ध्वनि, व्याकरण, तत्वज्ञान, गणित, ज्योतिष आदि पर अनेक नवीन ग्रन्थ लिखे गये। मुसलमान राज्यों में भी भारतीयों ने संस्कृत का लिखना-पढ़ना बन्द नहीं किया। इसीलिये मध्यकालीन भारत का सस्कृत साहित्य अधिक विशाल है। इसके कुछ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं और अनेक पाण्डुलिपियों के रूप में देश के प्रायः प्रत्येक प्रान्तों के पुस्तकालयों में देखे जा सकते हैं। यद्यपि इस साहित्य में मौलिकता अधिक नहीं है और प्रतिभा भी नाममात्र को ही है तथापि टीका-टिप्पणी, संक्षेप और संकलन में उसने अधिक विद्वत्ता और चतुरता का प्रदर्शन किया है।

विद्वानों और पण्डितो के लिये राज्य का सहारा अनेक अंशों में उठ जाने के कारण अनेक पण्डितों और कवियों को निराश्रय होना पड़ा तथा अनेक ब्राह्मणो, बौद्ध तथा जैन मठों अथवा पाठशालाओं का गौरव भी नष्ट हो गया। इन सबके इति श्री हो जाने का परिणाम यह हुआ कि संस्कृत का प्रचार कम हुआ किन्तु हिन्दी कवियो ने उसकी सामग्री से लाभ अवश्य उठाया। चौदहवीं, पन्द्रहवीं शताब्दी में देशी भाषा साहित्य का माध्यम होने लगी। अनेक मुसलमान शासकों ने इस भाषा को आश्रय दिया। प्रसिद्ध है कि अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ ने अनेक हिन्दी कवियो को दरबार में बुलाया और बड़े आदर सम्मान तथा सत्कार पूर्वक द्रव्य दिया। जिसका परिणाम हुआ कि जो विरुदावालियाँ तथा अलंकार एवं चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ हिन्दू राजाओं के दरबारों में संस्कृत कवियों द्वारा कही जाती थी उन्हीं से मिलती-जुलती अथवा वही हिन्दी कवियों द्वारा मुसलमान बादशाहों के दरबारों में कही जाने लगीं, अन्तर केवल भाषा का था और वह उर्दू/फारसी के प्रभाव से कुछ संस्कृत की अपेक्षा नया अन्दाज और नया स्वर भी लेकर अवतरित हुई।

अपने विकास-काल में हिन्दी अपभ्रंश भाषा एवं उसके साहित्य के सबसे अधिक निकट रही। कुछ विद्वानों ने तो इसे अपभ्रंश का परिष्कृत रूप ही मान लिया है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इसके काव्य रूपों एवं विषय वस्तुओ पर सबसे अधिक प्रभाव अपभ्रंश साहित्य का ही पड़ा है। जिस समय अपभ्रंश साहित्य से संवलित होकर उसी के गर्भ से

हिन्दी कविता फूट रही थी उस समय 'सिद्ध' और 'नाथ' सम्प्रदाय से प्रभावित सन्त कवि-गण लोक भाषा में रचना कर रहे थे। लोक भाषा में रची कविताओं के अन्तर्गत अलंकारों की योजना करनी सम्भव नहीं। जिस से तत्कालीन रचनाओं में अलंकृत शैली का नितान्त अभाव दिखलाई पड़ता है। ठीक इसी समय जबकि लोकभाषा से काव्यरचना हो रही थी वैष्णव धर्म का उदय हुआ। वैष्णव धर्म, ब्राह्मण धर्म का ही विकसित रूप था जिसे रामानुजाचार्य तथा निम्बार्काचार्य आदि शास्त्रीय विद्वानो ने अपनी शास्त्रीय रचनाओं के द्वारा प्राचीन धर्म, दर्शन तथा संस्कृत साहित्य से हिन्दी कविताओं को जोड़ दिया।

चौदहवीं तथा पन्द्रहवीं शताब्दी में उत्तर भारत में रामचन्द्र, राघवानन्द, वल्लभाचार्य तथा चैतन्य महाप्रभु जैसे प्रकाण्ड विद्वान हुए जो संस्कृत के महान् पंडित थे और उन लोगों ने इस वैष्णव धर्म को संस्कृत में रचे ब्राह्मण धर्म के शास्त्र-ग्रन्थो, आगम, पुराण और काव्य-ग्रन्थो की दृढ़ भूमिका पर प्रतिष्ठित किया। इनके प्रभाव से जिस वैष्णव साहित्य की प्राणप्रतिष्ठा हुई उसमे प्राचीन और मध्यकालीन संस्कृति का पूरा प्रभाव पड़ा। समस्त धार्मिक ग्रन्थों के सस्कृत में होने के कारण संस्कृत भाषा की ओर लोगो की रुचि गयी। जयदेव ने संस्कृत में राधा-कृष्ण के प्रेम गीत गाये तो उसकी प्रतिध्वनि विद्यापति के गीतो में हुई। सूरदास तथा कृष्ण भक्ति शाखा के कवियों में प्रेम का लौकिक आलम्बन भक्ति का मधुर पारलौकिक आलम्बन हो गया[1]। हिन्दी के श्रेष्ठ कवि संस्कृत के भी अच्छे जानकार थे जिससे उनकी रचनाये अधिक से अधिक संस्कृत साहित्य के निकट पहुँचने लगीं।

संस्कृत भाषा की कुछ स्वाभाविक कठिनाइयों के कारण जो साधारणतः लोग उसे समझने में असमर्थ रह जाते थे उन कठिनाइयों को दूर करने के लिये सस्कृत को हिन्दी के माध्यम से बोधगम्य बनाने का प्रयास किया गया।

व्याकरण के अधिक घटाटोप के बढ़ जाने के कारण ही संस्कृत भाषा लोक जीवन से दूर होती गयी और वह धीरे-धीरे प्रायः साहित्य से भी दूर हो गयी इस कठिनाई का अनुभव हिन्दी के आचार्यों एवं कवियों ने भलीभाँति किया जिससे उन लोगों ने संस्कृत साहित्य में अक्षुण काव्यकला एवं शास्त्र सम्बन्धी ज्ञान को सर्व सुलभ बनाने के लिये उसे हिन्दी भाषा के माध्यम से कहना आरम्भ किया। इस प्रकार अनुवाद एवं भाषानुवाद के माध्यम से संस्कृत साहित्य की काव्य सामग्रियाँ हिन्दी कविताओ में आने लगी। कविवर 'सूरदास' में मौलिकता के अधिक होने के कारण संस्कृत साहित्य से ली गयी सामग्रियाँ उनकी अपनी सी लगती हैं किन्तु सूरसागर के समस्त लीलापदों में उन्होंने अपने ढंग से भागवत की कथा ही कही है।

गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं में संस्कृत ग्रन्थों का प्रभाव अधिक स्पष्ट रूप में दिखलाई पड़ता है। उनके रामचरित मानस पर संस्कृत के बाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण, हनुमान्नाटक, उत्तररामचरित, चम्पू रामायण, चाणक्य नीति, गर्ग संहिता तथा ब्राह्म रामायण आदि ग्रन्थों के प्रभाव स्पष्ट रूप में विद्यमान है जिनसे एकाध उदाहरण दे देना

१—बिहारी—पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्र० सं० पृ० १७।

असंगत न होगा—

परोक्षे कार्यहन्तारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम् ।
वर्जयेत् तादृशं मित्रं विषकुम्भं पयोमुखम् ॥'

: चाणक्य नीति :

आगे कह मृदु बचन बनाई । पीछे अनहित मन कुटिलाई ॥
जाकर चित अहि गति सम भाई । अस कुमित्र परिहरे भलाई ॥

: रामचरित मानस :

'मनसि वचसि काये जागरे स्वप्नमार्गे
यदि मम पतिभावो राघवादन्यपुंसि ।
तदिह हर ममाङ्ग पावनं पावक त्वम् ।
सुललितफलभाजां त्वं हि कर्मैकसाक्षी ।'

: हनुमन्नाटक :

'जो मन क्रम बच मम उर माहीं ।
तजि रघुवीर आन गति नाहीं ॥
तो कृसानु सबकी गति जाना ।
मो कहँ होउ श्रीखंड समाना ॥'

: रामचरित मानस :

इसी प्रकार केशवदास जी की कविताओं में भी बाल्मीकि रामायण, प्रसन्न राघव तथा हनुमन्नाटक आदि संस्कृत ग्रन्थों के प्रभाव देखे जा सकते हैं । 'हनुमन्नाटक' के राम-परशुराम-संवाद के अन्तर्गत 'राम' द्वारा कहे गये 'परशुराम' की प्रशंसा में शब्द 'केशव' की कविता में अपनी स्पष्ट झलक मार रहे हैं :

'स्त्रीषु प्रवीर जननी जननी तवैव,
देवी स्वयं भगवती गिरिजापि यस्यै ।
त्वद्दोर्वशीकृतविशाखमुखावलोक—
व्रीडाविदीर्णहृदया स्पृहयांबभूव ॥ ४३ ॥

: हनुमन्नाटक :

'जब हयो हैहय राज इन बिन क्षत्र छिति मंडल कर्‌यो ।
गिरि बेध षटमुख जीति तारक नन्द को जब ज्यों हन्यो ।
सुत मैं न जायो राम सो यह कह्यौ पर्वत नन्दिनी ।
वह रेणुका तिय धन्य धरणी मैं भई जगवन्दिनी ॥ २६ ॥

: रामचन्द्रिका पूर्वार्द्ध :

सीता स्वयंवर के समय शम्भु के धनुष के टूट जाने पर क्रोधातुर परशुराम बार बार अपने कठोर कुठार की हिंसक गरिमा का वर्णन रामचन्द्र को सुनाते और उनके शौर्य को चुनौती देते हैं जिस पर रामचन्द्र जी अत्यन्त विनम्र भाव से उत्तर देते हैं, जिसका वर्णन हनुमन्नाटक-कार ने दो छन्दों में किया है—

: १ : 'जातः सोऽहं दिनकरकुले क्षत्रियः श्रीऽहं त्रियेभ्यो,
विश्वामित्रादपि भगवतो दृष्टदिव्यास्त्रपारः ।
अस्मिन्वेशे कथयतु जनो दुर्यशो वा यशो वा,
विप्रेशस्त्रग्रहणगुरुणाः साहसिक्याद्बिभेमि ।
: हनुमन्नाटक छं० स० ४७ :

अर्थात् मै सूर्यवंशी क्षत्रिय हूँ और श्रोत्रिय भगवान विश्वामित्र जैसे व्यक्ति ने मुझे अपार दिव्यास्त्रों की शिक्षा भी दी है । फिर भी मेरे वंश को यश की प्राप्ति हो अथवा अपयश की, मै ब्राह्मण के विरुद्ध शस्त्र धारण करने के महान साहस से डरता हू ।

: २ : 'हारः कंठे विशतु यदि वा तीक्ष्णधारः कुठारः ।
स्त्रीणां नेत्रारारायधिवसतु सुखं कज्जलं वा जलं वा
सम्पश्यामो ध्रुवमपि सुखं प्रेतभर्तुर्मुखं वा
यद्वा तद्वा भवतु न वयं ब्राह्मणेषु प्रवीराः ।'
: हनुमन्नाटक छं० सं० ४४ :

अर्थात् हमारे कंठ में हार सुशोभित हो या तीक्ष्ण धार वाला कुठार, स्त्रियों के नेत्रों में सुख का द्योतक काजल शोभा पाये अथवा उनसे अश्रुधारा बहे, निश्चय ही हमे सुख की प्राप्ति हो अथवा यम का मुख देखना पड़े, चाहे जो कुछ भी हो हम लोग ब्राह्मणों के लिये वीर नहीं है । उपरोक्त दोनों छन्दों के मूल भाव को 'केशव' ने एक छन्द में ही समेट लिया है—

'कंठ कुठार परै अब हार कि, फूलै असोक कि सोक समूरो
कै चितसार चढ़े कि चिता, तन चंदन चैंकि की पावक पूरो ।
लोक में लोक बड़ी अपलोक, सु केशव दास जो होउ सु होऊ
विप्रन के कुल को भृगुनन्दन, सूर न सूरज के कुल कोऊ ।।
: रामचन्द्रिका पूर्वार्द्ध :

धर्म ग्रन्थों के बाद काव्य शास्त्र ग्रन्थों का प्रभाव हिन्दी काव्यों पर पड़ने लगा । यदि साहित्य के क्षेत्र में 'जयदेव' के 'प्रसन्न राघव' का प्रभाव हिन्दी कविताओं पर पड़ा तो उनके 'चन्द्रालोक' का भी प्रभाव काव्यशास्त्रों पर पड़ना आवश्यक ही था । काव्यशास्त्र की पकी पकाई सामग्री संस्कृत साहित्य में वर्तमान थी जिसका हिन्दी कवियों को उपयोग भर ही करना था और उन लोगों ने वैसा किया भी । संस्कृत काव्य शास्त्रों की रचना जिस राजन्य संस्कृति में हुई थी वैसी ही स्थिति हिन्दी कवियों के भी सम्मुख उपस्थित हो गयी थी । अन्तर केवल इतना ही था कि संस्कृत कवियों के सामने राजपूती दरबार थे और और हिन्दी कवियों के सम्मुख मुस्लिम तथा उनके आश्रित राजाओ के दरबार थे ।

मुक्तक काव्य दरबारों की ही देन है । फलस्वरूप हिन्दी कवियों द्वारा मुक्तक साहित्य की प्रभूत मात्रा में सृष्टि हुई । मुक्तकों के लिये सहारे की आवश्यकता होती है । जिस प्रकार लतायें बिना सहारे के ऊपर नहीं जा सकतीं उसी प्रकार मुक्तक काव्यों की भी रचना सहारे के अभाव में सम्भव नहीं होती । इन मुक्तककारों के सम्मुख संस्कृत काव्य शास्त्र का सहारा

था जिससे हिन्दी कवियों के द्वारा संस्कृत काव्य-शास्त्र की एक नवीन उद्धरणी हो गयी। इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य एवं काव्य-शास्त्र दोनों ही क्षेत्रों में हिन्दी कविता ने संस्कृत ग्रन्थों का सहारा लिया।

इतना अवश्य है कि हिन्दी में अलंकृत शैली का क्षेत्र उनता व्यापक नहीं रह पाया जितना कि संस्कृत साहित्य में। मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में हिन्दी गद्य का विकास नहीं हो पाया था और न तो उसमें नाटक और कथा-आख्यायिकायें ही ऐसी लिखी गई जिनमें संस्कृत के नाटकों एवं कथा-आख्यायिकाओं कीं अलंकृत शैली के दर्शन होते। यही कारण है कि हिन्दी साहित्य में प्रबन्ध काव्य-गीत और मुक्तक जो हिन्दी काव्य के उपलब्ध अंग थे उनमें ही अलंकरण प्रवृत्ति अथवा अलंकारों का विकास हो पाया है। सस्कृत साहित्य की भाँति हिन्दी प्रबन्ध काव्यों में उत्तम कोटि के महाकाव्य भी नहीं लिखे जा सके। हिन्दी में एक भी ऐसा महाकवि नहीं था जिसे कालिदास, भारवि, माघ अथवा श्रीहर्ष की श्रेणी में रखा जा सके। गोस्वामी तुलसीदास को महाकाव्य की प्रतिभा मिली थी किन्तु धार्मिक भावना का प्रभाव अधिक होने के कारण उनकी कृति में मानवीय भावनों की वह रमणीयता तथा अलंकृत शैली नहीं आ पायी जो संस्कृत महाकाव्यकारों में मिलती है। विद्यापति और सूरदास के गीतों में स्वस्थ अलंकृत शैली के दर्शन होते हैं। मध्यकालीन हिन्दी अलंकृत शैली कारों का मुख्य क्षेत्र मुक्तक रहा है। हिन्दी के कवि केवल कवि ही नहीं थे वे आचार्य भी थे, जिससे मुख्यतः मुक्तकों की सृष्टि उदाहरण प्रस्तुत करने के लिये ही हुई है। संस्कृत की भाँति हिन्दी मुक्तक कवि की अन्तः प्रवृत्ति के परिणाम नहीं बल्कि उनके आचार्यत्व के परिणाम हैं जिससे एक ही विषय का पिष्टपेषण अथवा पुनरावृत्ति उसकी सामान्य विशेषतायें हैं। कुछ ऐसे कवि अवश्य हैं जो अपने को आचार्य होने से बचा सके हैं, जिससे उनकी कविताओं में मौलिक उद्भावनायें एवं स्वस्थ अलंकृत शैली के दर्शन होते हैं।

हिन्दी मुक्तक काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ—

मुक्तकों के विकास क्रम का जो रूप संस्कृत साहित्य में रहा है हिन्दी साहित्य में उससे कुछ भिन्न दिखलाई पड़ता है। किन्तु इस काल में काव्य की शक्ति, लोकप्रियता और महत्ता सदैव अक्षुण्ण रही है। संस्कृत साहित्य में काव्य परम्परा के रूप में मुक्तकों का विकास प्रबन्ध काव्यों के बाद में होने पर भी, इसका इतिहास अति प्राचीन है। एक प्रकार से यदि देखा जाय तो काव्य-साहित्य का आरम्भ मुक्तक से ही हुआ। आदि कवि बाल्मीकि के कंठ से कविता की परम्परा प्रबन्ध काव्य के रूप में नहीं बल्किमुक्तक के रूप में ही फूटी थी। अनुभूत भावों के चित्र सर्व प्रथम कविता में मुक्तकों के रूप में ही आते हैं, बाद में कवि अपनी कल्पनात्मक प्रतिभा के सहारे उसे प्रबन्ध अथवा महाकाव्य का स्वरूप प्रदान करता है। भावों की अभिव्यक्ति के लिये सन्दर्भ आदि अन्य बाह्य उपकरणों की अपेक्षा न करने वाले तथा अपने अर्थ को व्यक्त करने में स्वतः समर्थ होने के कारण उपदेश तथा नीति सम्बन्धी उक्तियों के लिये मुक्तकों का सम्मान सदैव रहा है। भारतीय साहित्य में उपदेश तथा नीति प्रधान वर्णनों को महत्वपूर्ण स्थान मिलने के कारण मुक्तकों की उपेक्षा कभी भी नहीं की गयी। विदुरनीति, महाभारत में आये हुये नीतिवाक्य तथा उपदेश और चाणक्य नीति आदि ऐसी अमूल्य निधियाँ हैं जिन्हें साहित्य की सीमा से अलग नहीं किया जा सकता और वे सभी

मुक्तक काव्यों के अन्तर्गत आती हैं। किन्तु श्रृंगार-परक मुक्तकों का विकास जिनमें अलंकरण वृत्ति को महत्वपूर्ण स्थान मिला, दरबारी सभ्यता के विकास में ही हुआ।

संस्कृत साहित्य से सीधे प्रभाव ग्रहण करने के कारण हिन्दी काव्य में मुक्तकों का विकास प्रबन्ध काव्य के बाद की अवस्था नहीं बल्कि हिन्दी काव्य की आरम्भिक अवस्था है। लौकिक अथवा ऐहिकता परक मुक्तक संस्कृत साहित्य में तो नहीं किन्तु प्राकृत में विद्यमान थे जो बाद में चलकर संस्कृत में भी लिखे जाने लगे। दो ऐसी प्रमुख परिस्थितियाँ हैं जो मुक्तकों के लिये नितान्त अनुकूल ठहरती है। प्रथमतः जब मानव कल्पना से दूर रहकर अपने मानव सुलभ आकर्षण-विकर्षण, हर्ष, उन्माद, विषाद एवं प्रेम जन्य सुख अथवा पीड़ा का अनुभव करता है तो उसमें सचाई एवं तीव्रता होती है किन्तु अलंकार-विधान एवं प्रबन्ध-कल्पना की आशा करना ऐसे वर्णनों में अवांछित है क्योंकि उन्हें न तो ये सब पचड़े आते हैं और न वे इसमें पड़ना ही चाहते हैं। ये रचनायें धारावाहिक रूप में न लिखी जाकर फुटकर श्लोकों में लिखी जाती है, किसी ऐतिहासिक या पौराणिक पुरुष के चरित्र का अवलम्बन लेकर न लिखी जाकर छोटे-छोटे अपने आप में पूर्ण रसमय पद्यों में लिखी जाती हैं जिसके प्रमाण स्वरूप अभीर जाति से सम्बन्ध रखने वाली अपभ्रंश भाषा की मुक्तक रचनाओं को लिया जा सकता है।

दूसरे प्रकार के मुक्तकों की रचना उस सामाजिक परिस्थिति में होती है जिसे राजसी वातावरण अथवा दरबारी सभ्यता या राजन्य संस्कृति कह सकते हैं। इस स्थिति में कवि एवं साधक की वे कठिनाइयाँ जो उसकी रचना के प्रचार, प्रसार एवं रक्षण के क्षेत्र में पड़ती हैं बहुत कुछ दूर हो जाती हैं। राजदरबारों के माध्यम से कवि एवं कलाकारों के बीच की दूरी समाप्त हो गई। एक ही स्थान पर अनेक कवियों को अपनी रचना सुनाने तथा दूसरों की रचनाओं को सुनने का अवसर मिलने लगा जिससे जीवन भर साधना करके महाकाव्यों की सृष्टि के लिये ही विवश नहीं होना पड़ा बल्कि प्रतिद्वन्द्विता के लिये भी उन्हें पूर्ण अवकाश मिलने लगा। परिणामतः उक्ति वैचित्र्य तथा प्रभाव गाम्भीर्य की ओर कवियों की दृष्टि का जाना आवश्यक हो गया जो मुक्तकों के माध्यम से ही सम्भव था।

लौकिक तथा धार्मिक मुक्तकों के दो मोटे-मोटे भेद किये जा सकते हैं। लौकिक मुक्तकों के अन्दर प्रेमपरक भावना, रमणी का सौन्दर्य, रूप छटा के रंगीन चित्र, श्रृंगार की विभिन्न अवस्थायों का मार्मिक चित्र तथा स्थूल श्रृंगार से सम्बन्धित वर्णन आदि के चित्रण आते हैं। और धार्मिक मुक्तकों के अन्तर्गत नीति, उपदेश तथा विशिष्ट देवताओं की स्तुति आदि से सम्बन्धित कवितायें आती हैं।

हिन्दी के धार्मिक मुक्तक—

हिन्दी के धार्मिक मुक्तकों को हम दरबारी सभ्यता की देन नहीं कह सकते क्योंकि वे धर्म प्राण जाति की रचनायें हैं। किसी भी प्रकार का यदि उन पर दरबारी प्रभाव माना भी जा सकता है तो वह केवल उनके काव्य रूप तक ही सीमित है। दरबारी सभ्यता में मुक्तक काव्य को ही अधिक प्रश्रय मिलता है अतः धार्मिक वृत्तियों को मुक्तकों के माध्यम से ही प्रकट किया जा सकता है। हिन्दू धर्म का अक्षय कोष संस्कृत ग्रन्थों में ही सुरक्षित तथा

जिसमें नीतिपरक मुक्तकों का अम्बार लगा हुआ था और नीति, उपदेश तथा स्तोत्र का बाहुल्य हिन्दी के धार्मिक मुक्तकों के लिये विकास की न्यून सामग्री नहीं थी ?

उत्तर भारत पर मुसलमान शासकों के पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो जाने के कारण धार्मिक अथवा भक्ति आन्दोलन कुछ काल के लिये दबा हुआ सा भले दिखलाई पड़े किन्तु दक्षिण में उसके घने बादह इकट्ठे हो रहे थे जहाँ पर भक्ति आन्दोलन का स्वर धीमा नही हुआ था 'वज्र यानी सिद्ध' कापालिक आदि देश के पूर्वी भागो में और नाथ पंथी जोगी पश्चिमी भागों में रमते चले आ रहे थे।[१] उच्च श्रेणी के लोगों में इनका सम्मान नहीं था जिससे इन लोगो ने अपने प्रचार का माध्यम अशिक्षित निम्न श्रेणी की जनता को बनाया। 'वज्रयानी सिद्धों ने निम्न श्रेणी की प्रायः अशिक्षित जनता के बीच किस प्रकार के भावों के लिये जगह निकाली, यह दिखाया जा चुका है। उन्होने बाह्यपूजा, जातिपाँति, तीर्थाटन, इत्यादि के प्रति उपेक्षा—बुद्धि का प्रचार किया, सहस्यदर्शी बनकर शास्त्रज्ञ विद्वानों का तिरस्कार करने और मनमाने रूपको के द्वारा अटपटी बानी में पहेलियाँ बुझाने का रास्ता दिखाया[२]। इस प्रकार ज्ञानाश्रयी शाखा के महात्माओ द्वारा साखियाँ तथा बानियाँ हिन्दी साहित्य को मिलीं जिन्हें धार्मिक मुक्तकों के अन्तर्गत रख सकते हैं। निर्गुण सम्प्रदाय के समानान्तर ही सगुणोपासक भक्त कवियों का भी दल चल रहा था किन्तु ये कवि हिन्दी मुक्तक को उतनी रचनायें ;नहीं दे सके जितनी कि हिन्दी प्रबन्ध काव्य को क्योंकि उनमें से अधिकांश अवतारवादी थे और अपने आराध्य देव का सांगोपांग चित्रण करना चाहा है जो प्रबन्ध काव्यों के माध्यम से ही सम्भव हो पाता है। इसके अतिरिक्त ऐहिकता परम मुक्तको की भी रचनायें यत्र-तत्र हो रही थीं जिनकी चर्चा हम आगे करेंगे किन्तु इतना कह देना असंगत न होगा कि अपेक्षाकृत धार्मिक मुक्तकों की रचनाये इस काल में अधिक हुई। संस्कृत साहित्य की भाँति विविध धार्मिक मुक्तकों की रचनाये हिन्दी साहित्य में नहीं हुई बल्कि वे नीति, उपदेश, अन्योक्ति तथा भक्ति तक ही सीमित रहीं।

अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते हुये भ्रमण करने वाले सन्त साधारण लोगों को उपदेश कविता में ही दिया करते थे। कबीर ने उपदेश परक न जाने कितने छन्द कहे हैं। गुरु की महत्ता बतलाते हुये कबीर का कथन है :—

'कबीर ते नर अंध हैं कहते गुरु को और।
हरि रुठे गुरु ठौर है गुरु रुठे नहिं ठौर॥

: क० ग्र० :

'चरनदास' के अनुसार साधक को ससार में उसी प्रकार निर्लिप्त भाव से रहना चाहिये जिस प्रकार जल से निर्लिप्त होकर जल में कमल रहता है।

'जग माहीं ऐसे रहौ, ज्यों अम्बुज सरमाहिं।
रहै नीर के आसरे, पै जल छूवत नाहिं॥

: सं० बा० सं० भा० १ :

१—रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ६०

२—वही, पृ० २०

गुरु नानक ने कहा है कि साधना के लिये परिवार त्यागने की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि सतगुरु की ऐसी महिमा है कि परिवार के बीच ही रहकर मनुष्य मुक्ति की प्राप्ति कर सकता है—

'सतगुरु की अमी बड़ाई, पुत्र कलत्र बिचै गति पाई'

—ग्रन्थ साहब

महात्मा कबीर और दादू ने भी गुरु नानक के भाव से मिलता जुलता विचार प्रकट किया है—

'गावण ही में रोवण, रोवण ही में राग।
एक वैरागी ग्रह में, इक ग्रही में बैराग।'

: क० ग्र० पृ० ५९ :

देह रहै संसार में जीवन राम के पास।
दादू कुछ व्यापै नहीं काल झाल कुल त्रास॥

: सं० बा० सं० भाग० पृ० ९३ :

हिन्दी के नीतिपरक काव्य में लोकोक्ति और मुहावरों का अधिकाश प्रयोग किया गया है। प्रायः जितनी, अन्योक्तियाँ कहीं गई है सब में नीति विषयक संकेत ही प्राप्त होता है। अन्योक्ति के माध्यम से नीति विषयक रचना करने में दीनदयाल गिरि का नाम अत्यन्त महत्वपूर्ण है :

'केतो सोम कला करौ, करौ सुधा को दान।
नहीं चन्द्रमणि जो द्रवै यह तेलिया परवान॥
यह तेलिया परवान, बड़ी कठिनाई जाकी।
टूटींयाके सीस बीस बहु बाँकी टाँकी॥
बरनै दीन दयाल, चंद तुमही चि चेतौ।
कूरन कोमल होहिं कला जो कीजै केतौ॥

उपरोक्त कुण्डलियो में कवि ने क्रूर की कठोरता का वर्णन किया है इसी प्रकार वह दूसरे छन्द में अपात्र का वर्णन करता है—

बरखै कहा पयोद इत मानिमोद मन माहि।
यह तो ऊसर भूमि है अंकुर जमिहैं नाहिं॥
अंकुर जमिहैं नाहिं बरष सत जौ जल दैहै।
गरजै तरजै कहा? वृथा तेरो श्रम जैहै॥
बरनै दीन दयाल न ठौर कुठौरहिं परखै।
नाहक गाहक बिना बलाहक ह्यात् बरखै॥

सरल स्वाभाविक एवं मार्मिक रचना करने में कविवर रहीम हिन्दी नीतिकारों में अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं रखते। रहीम कवि का कहना है कि जो चार दिन के लिये स्वार्थ के वशीभूत होकर प्रेम करने लग जाते हैं, वे अपने स्वार्थपूर्ति के अभाव को देखकर तत्काल प्रेम करना छोड़ देते हैं जबकि सच्चे प्रेमी अपने प्रेमपात्र का प्रत्येक अवस्था में साथ देते हैं—

'सर सूखे पंछी उड़ैं औरे सरहि समाहि ।
दीन मीन बिनु पच्छ के कहु रहीम कहँ जाहिं ॥'

: रहि० विला० :

कविवर रहीम उसी वस्तु अथवा व्यक्ति को महान मानने को तैयार हैं जिससे सर्वसाधारण का कल्याण हो सके—

'धनि रहीम जल पंक को, लघु जिय पियत अघाय ।
उदधि बड़ाई कौन है जगत पियासो जाय ॥'

: र० वि० :

महान् वही है जो दीनों का हित करे अथवा उन्हें अपने पार्श्व में स्थान दे—

'जे गरीब पर हित करै ते रहीम बड़ लोग ।
कहाँ सुदामा बापुरो कृष्ण मिताई जोग ॥'

दूसरों का हित करने वाले महापुरुष अपने हित की कभी भी चिन्ता नहीं करते—

'तरुवर फल नहि खात हैं, सरवर पियहिं न पान ।
कहि रहीम पर काज हित, संपत्ति सचहि सुजान ॥'

: र० वि० :

बिरले ही ऐसे मित्र होते हैं जो विपत्ति में भी साथ नहीं छोड़ते और यदि मित्र साथ न छोड़े तो विपत्ति किसी भी व्यक्ति का कुछ बिगाड़ नहीं सकती—

दुरदिन परे रहीम कहि, भूलत सब पहिचानि ।
सोच नहीं बित हानि को, जो न होय हितहानि ॥

: र० वि० :

रहीम कवि के नीतिपरक दोहों का उनके समकालीन अथवा परवर्ती कवियों पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि घोर शृंगारिक रचना करने वाले रीतिकाल के कवियों का नीतिपरक कुछ न कुछ रचना करना स्वाभाविक धर्म सा हो गया । जिन लोगों ने अपनी रचनायें दोहों में की है उन लोगों ने नीति परक दोहे अवश्य लिखे हैं । कवि शिरोमणि तुलसीदास ने चातक को प्रेमी अथवा भक्त का प्रतीक मानकर बड़ी ही सुन्दर अन्योक्तियाँ की है । बिहारी ऐसे शृंगार-रसमग्न कवियों की रचनाओं में भी सुन्दर नीतिपरक दोहों की कमी नहीं है और यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो स्पष्ट हो जायगा कि जितने भी हिन्दी के सतसईकार हैं, सबकी रचनाओं में नीति अथवा उपदेश परक दोहे पाये जाते हैं । कतिपय दोहों को उद्धृत कर देने से ही अनुमान लगाया जा सकता है कि मध्यकालीन सामंती वातावरण में भी नीति और उपदेश परक रचनाओं के प्रति कवियों का आकर्षण बना रहा ।

तुलसीदास

सूधे मन सूधे बचन सूधी सब करतूति ।
तुलसी सूधी सकल विधि रघुवर प्रेम प्रसूति ॥

चातक तुलसी के मते स्वातिहुँ पिये न पानि ।
प्रेम तृषा बाढ़ति भली घटे घटैगी कानि ।
रटत रटत रसना लटी तृषा सूखिगए अंग ।
तुलसी चातक प्रेम को नित नूतन रुचि रंग ।।
कै लघु कै बड़ मीत भल सम सनेह सुख सोइ ।
तुलसी ज्यों घृत मधु सरिस मिले महाविष होइ ।
मान्य मीत सो सुख चहै सो न छुवै छल छाह ।
ससि त्रिसंकु कै केइ गति लखि तुलसी मन माँह ।।
सहि कुबोल सासति सकल अगइ अनट अपमान ।
तुलसी धरम न परि हरिय कहि करि गए सुजान ।।

बिहारी

यहै आस अटक्यो रह्यौ अलि गुलाब के मूल ।
अहै बहुरि बसंत ऋतु इन डारन वै फूल ।।
नहि पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास इहिं काल ।
अली कली ही सौ बन्ध्यो आगे कौन हवाल ।।
दीरघ साँस न लेहि दुख सुख साइहिं न भूलि ।
दई दई क्यों करत है दई दई सु कबूलि ।।
जप माला छापा तिलक सरै न एकौ कामु ।
मन काँचै नाचै वृथा साचै राचै रामु ।।
घरु घरु डोलत दीन ह्वै जनु जनु जाचतु जाइ ।
दियै लोभ चसमा चखनु लघु पुनि बड़ौ लखाइ ।

मतिराम

राधा मोहन लाल कौ जाहि न भावत नेह ।
परियौ मुठी हजार दस ताकी आँखिनि खेह ।।
गुन अवगुन कौ तनकऊ प्रभु नहिं करत विचार ।
केतकि कुसम न आदरत हर सिर धरत कपार ।।
निज बलकौ परिमान तुम तारे पतित बिसाल ।
कहा भयो जु नहीं तरतु तुम खिस्याहु गोपाल ।।
होत जगत में सुजन को दुरजन रोकनहार ।
केतकि कमल गुलाब के कंटक भय परिहार ।।

रसनिधि

कै इक स्वांग बनाइ कै नाचौ बहु विधि नाच ।
रीझत नहिं रिझवार वह बिना हिये के सांच ।।
कपटौ जब लौ कपट नहिं सांच बिगुरदा धार ।
तब लौ कैसे मिलै गौ प्रभु साँचौ रिझवार ।।

मीता तू या बात को हिए गौर करि हेर।
दरदवंत बेदरद को निसि बासर कौ फेर॥
जब देखौ तब भलन तै सजन भलाई होहि।
जारै जारै अगर ज्यौं तजत नहीं सस बोहि॥
हित करियत यह भाँति सौ मिलियत है वह भाँत।
छीर नीर तै पूछलै हित करिबे की बात॥

बृंद—

कहा होय उद्यम किये जो प्रभु ही प्रतिकूल।
जैसे निपजै खेत को करै सलभ निरमूल॥
जो जाकौ गुन जानहीं सो तिहिं आदर देत।
कोकिल अँबहि लेत है कागनबौरी लेत॥
रहे समीप बड़ेन के होत बड़ो हित मेल।
सबही जानत बढ़त है वृक्ष बराबर बेल॥
अपनी पहुँच बिचारि कै करतबँ करियै दौर।
तेते पाँव पसारियै जैती लाँबी सौर॥
प्रान तृषातुर के रहै थोरे हूँ जलदान।
पीछै जलभर सहस घट डोर मिलत न प्रान॥

हिन्दी सतसई परम्परा

परम्परा—

सतसइयों के नाम पर ग्रन्थ प्रस्तुत करने की परम्परा हिन्दी की अपनी कोई मौलिक उद्भावना नहीं है बल्कि इस क्षेत्र में हिन्दी को अपने पूर्ववर्ति साहित्य से इसका उत्तराधिकार मिला है। भारतीय साहित्य में सख्या परक ग्रन्थों को प्रस्तुत करने की एक दीर्घ परम्परा वर्तमान थी जिसका लाभ हिन्दी के कवियों को हुआ है। प्रत्येक देश के अपने कुछ न कुछ विशिष्ट संस्कार होते हैं जिनका प्रभाव उनके जीवन के विभिन्न क्षेत्रों पर पड़ता है। हमारे भारतीय संस्कार कुछ ऐसे हैं जिसके कारण हम प्रत्येक अच्छी वस्तु को सख्या में जानने के अभ्यासी हो गये हैं। हमारे लोकों की संख्या तीन है, ब्रह्मा, विष्णु, और महेश प्रमुख शक्तियाँ तीन हैं तथा पूजनीय वेदों की संख्या चार है, आदि ऐसे प्रमाण है, जिनका अनुकरण हमारे लिये अनिवार्य अंग सा हो गया है। इन्हें हम जातीय संस्कार कह सकते हैं जिनका काव्य क्षेत्र पर भी प्रकट होना अनिवार्य है और वैसा हुआ भी। वस्तुतः सात सौ या तीन सौ, या सौ फुटकर पद्यों के संग्रह के रूप में काव्य रचना की प्रथा इस देश में बहुत पुराने काल से होती आ रही है। गीता में सात सौ श्लोक है, जोड़ बटोर कर चंडी पाठ के श्लोकों की संख्या को भी सात सौ बनाने की कोशिश की गई है। "सतसई' और 'सतसैया' शब्द संस्कृत कि 'सप्तशती' और 'सप्तशति' का शब्दों के रुपान्तर है, जो सात सौ पद्यों का संग्रह इस अर्थ में कुछ योग रुढ़ से हो गये है[1]।

प्राचीन भारत में कवि लोग प्रायः अपनी फुटकर पद्यों की रचनाओं को संख्यापरक नाम दे दिया करते थे। सौ पद्यों के सग्रह को शतक कहते थे। अमरुक का शतक तो प्रसिद्ध है ही, भर्तृहरि के भी तीन शतक प्रसिद्ध हैं, मयूर कवि का सूर्य स्तुतिपरक सूर्यशतक और 'बाण' का चंडी की स्तुति करने वाला चंडीशतक आदि पर्याप्त प्रसिद्धि पा चुके हैं। हिन्दी रीतिकाल के आरम्भ होने के पूर्व और बाद में भी सस्कृत में श्रृंगारी शतकों की परम्परा चलती रही। चौदहवीं शताब्दी से पहले तो उत्प्रेक्षा वल्लभ ने सुन्दरी शतक लिखा था[2]। इस प्रकार यदि हम देखे तो संख्यापरक छन्दों के संग्रह प्रस्तुत करने की परम्परा बहुत पीछे जाती है, जिनका अन्तिम स्वरूप हमें हिन्दी की सतसइयों मे प्राप्त होता है। 'बिहारी से पूर्व दो सप्तशती प्रसिद्ध थीं, एक प्राकृत मे सातवाहन-सग्रहीत गाथा सप्तशती' और दूसरी संस्कृत में गोवर्धनाचार्य प्रणीत 'आर्यासप्तशती'। यद्यपि 'श्री मार्कण्डेय' पुराणान्तर्गत 'दुर्गासप्तशती' भी एक सुप्रसिद्ध सप्तशती है, पर नाम सादृश्य के अतिरिक्त अन्य विषय

१—बिहारी की सतसई—पद्मसिंह शर्मा पृ० २१।

२—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य पृ० ३२५।

में समालोच्य सतसई से उससे कुछ भी साम्य नहीं है। गाथा सप्तशती और आर्यासप्तशती ये दोनों ही अपने-अपने रूप में निराली और अद्वितीय हैं और सदा से सहृदयों के हृदय का हार रही हैं। इनमें गाथा सप्तशती ने विवेचक विद्वानों में अत्यधिक आदर पाया है[1]।

सतसई अथवा शतक के नाम से जितने संग्रह उपलब्ध हैं उन्हें देखने से स्पष्ट हो जाता है कि उन संग्रहों के अन्दर ठीक-ठीक छन्दों अथवा दोहों की संख्या सात सौ ही नहीं है, फिर भी सात सौ की संख्या न जाने कवियों को इतनी प्रियकर क्यों हुई। मुक्तकों के संग्रहों में सात सौ की संख्या के लिये जितना आग्रह दिखलाई देता है, उतना और किसी संख्या के लिये नहीं। अमरुक ने शतक लिखा और रसनिधि ने हजारा लिखकर मुक्तकों को हजारी का मनसब दिया सही, परन्तु विशेषतः लोगों ने यही प्रयत्न किया कि उनके संग्रहों में लगभग सात सौ पद्य रहें। सात सौ से कुछ अधिक पद्य रहने पर भी उनके संग्रहों के नाम 'सप्तशती' या सतसई ही रखे गये[2]।

ऐसे संग्रहों के माध्यम से एक विशेष प्रकार की रचनाओं को ही प्रश्रय दिया गया है। आरम्भ में हिन्दी साहित्य में आचार्यों द्वारा जो ग्रन्थ प्रस्तुत किये गये उनमें मुख्यतः दो प्रकार की प्रमुख प्रवृत्तियों के दर्शन मिलते हैं, जो उनके दो विभिन्न प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं। 'पूर्वी आर्य अधिक भावप्रवण, अध्यात्मवादी और रूढ़ियुक्त थे और पश्चिमी या मध्यदेशीय आर्य अपेक्षाकृत अधिक रुढ़ि-रूढ़ परम्परा के पक्षपाती, शास्त्रप्रवण और स्वर्गवादी थे। पूर्वी आर्यों में ही उपनिषदों की ज्ञान-चर्चा, बौद्ध और जैन आचार्यों का रुढ़ि से विद्रोह, तंत्र और वामाचार की स्थापना, सहज मत और योगमार्गों का प्रचार और आध्यात्मिकता-स्वरसित भाव प्रवण नीति काव्य का विकास हुआ।[3]' इस प्रकार या तो उस समय आध्यात्मिकता प्रवण-ग्रन्थों के दर्शन हो पाते थे या परम्परा पोषक कर्मकाण्ड प्रवण शास्त्रों के। इन दो प्रकार की प्रमुख रचनाओं के अतिरिक्त पूर्वी आर्यों में जो रुढ़ि विद्रोही एवं सरस गीति साहित्य के विकास को बल मिल रहा था उन्हीं से प्रेरणा प्राप्त कर ईस्वी सन् के बाद एक तीसरे प्रकार की भावधारा का अभ्युदय हुआ, जिसमें अध्यात्मवादी, मोक्षकामी, कर्मकाण्डवादी तथा स्वर्गकामी आदि रचनाओं को स्थान नहीं दिया गया। इनमें ऐहिकता मूलक सरस कवित्व है। ये उस जाति की रचनायें हैं जिसे अंग्रेजी में 'सेक्यूलर' कविता कहते हैं। इसके पूर्व जिन दो प्रकार की रचनाओं की चर्चा है उनसे इनमें विशेष अन्तर है। ये पहली रचनाओ की भाँति धारावाहिक रूप में नहीं लिखी जाती थीं और किसी ऐतिहासिक या पौराणिक पुरुष के चरित्र का अवलम्बन करके भी नहीं गाई जाती थीं, बल्कि फुटकल श्लोको के रूप में छोटे छोटे पद्यों में ही अपने आप में सम्पूर्ण अन्य निरपेक्ष भाव से लिखी जाती थीं। आरम्भ में ऐसी रचनायें प्राकृत भाषा में लिखी गईं और बाद में चल कर संस्कृत में भी लिखी जाने लगीं।[4] सन् ईसवी का आरम्भिक काल ऐसी रचनाओं का आरम्भिक काल नहीं है, बल्कि वह काल है जबकि इस प्रकार

१—बिहारी की सतसई—पद्मसिंह शर्मा, पृ० १।

२—श्यामसुन्दर दास—सतसई सप्तक, पृ० ४।

३—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ० १११।

४—वही।

की रचनाओं का आरम्भ प्राकृत भाषा में ही हुआ और इस प्रकार की कविताओं का सर्वप्रथम उपलब्ध संग्रह 'हाल' की सप्तशती या सतसई है। इन ग्रन्थों का प्रभाव बाद के भारतीय साहित्य पर भी पड़ा।

मुक्तकों के लिये अपनाये गये विषयों की भी कई श्रेणियाँ मिलती हैं। काव्य के अन्दर शृंगार को जब तक स्वतंत्र रूप से स्थान नहीं मिल सका था तब तक ऐसी कविताओं के माध्यम से भक्तिपरक रचनायें होती रहीं, जिन्हें ही ऐसे संग्रहों को साहित्यिक संज्ञा प्रदान करने का श्रेय है। 'स्तोत्र और भक्ति के ग्रन्थों के नाम शतक, सप्तशती आदि होते ही थे, पर जब लोग शृंगार की रचना करने लगे तो शुद्ध काव्य में भी शतक और सप्तशती नाम का ग्रहण होने लगा। प्राकृत में जब से 'हाल' की गाथा सप्तशती का संग्रह हुआ तब से शृंगार के वैसे ही रसपूर्ण मुक्तकों की रचना करने का और लोगों को भी हौसला होने लगा।'[1] मुक्तक काव्यों का संग्रह तैयार करने के लिये किसी एक निश्चित संख्या का होना आवश्यक था जिसके लिये भारतीय स्वभाव उत्तरदायी हैं जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। मुक्तकों को सौ के बन्धन में बाँधने की परम्परा का प्रचलन बहुत पहले हो चुका था जिसका हिन्दी कवियों को केवल अनुकरण भर करना था और उन्होंने किया भी।

गाथा सप्तशती को आदर्श मानकर अथवा उसके अनुकरण पर लिखी गई सतसइयाँ दो प्रकार की हैं, जिनमें एक प्रकार की रचना के माध्यम से सूक्ति अथवा भक्तिपरक छन्दों अथवा दोहों की सृष्टि हुई और दूसरे प्रकार की रचनाओं के माध्यम से शृंगारिक ऐहिकता-परक रचनायें प्रस्तुत की गईं। सतसई के नाम से संख्यापरक संग्रह प्रस्तुत करने वाले आगे के प्रायः सभी कवियों पर 'गाथा सप्तशती'कार का प्रभाव है जिसका अनुकरण कवियों ने अपनी वर्ण्य वस्तु के अनुसार किया। कुछ कवियों ने संख्या, शैली, विषयवस्तु तथा उक्तिवैचित्र्य आदि सभी कुछ 'गथा सप्तशतीकार' का अपने ढंग से अपना लिया है और कुछ कवियों ने केवल संख्या और उक्ति वैचित्र्य को ही अपनाया है और वर्णन सामग्री को अपनाने में अपनी रुचि विशेष का ही परिचय दिया है। इस प्रकार 'गाथा सप्तशती' से प्रभावित जिस सतसई परम्परा का आगे विकास हुआ विषय वस्तु के आधार पर उसके दो स्वरूप हो गये जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

दोनों प्रकार की 'सतसइयों' का उद्देश्य तीव्रतम अनुभूत ज्ञान को सहज संवेदनीय बनाना होने के कारण वे अपनी अभिव्यंजना शैली में बहुत कुछ समान रहीं और दोनों में ही उक्ति वैचित्र्य को प्रमुखतम स्थान मिला है। शृंगारपरक रचना हो अथवा नीतिपरक दोनों ही में कवि प्रयत्न करता है कि अकेले पद्य में विभाव, अनुभाव आदि से परिपुष्ट इतना रस वह लाकर भर दे कि उसके स्वाद से पाठक तृप्त हो जाय। सहृदयता की तृप्ति के लिये उसे किसी प्रकार अगली-पिछली कथा का सहारा न ढूँढ़ना पड़े, जिससे प्रभाव उत्पन्न करने के लिये मुक्तककार को कई ऐसे हथकंडों की आवश्यकता पड़ती है जो उसको इस महत् कार्य में सफलता दिलाने में समर्थ होते हैं। सबसे पहले उसके कथन में कुछ बक्रता या बाँकपना होना चाहिये। उसे घुमाव-फिराव से बात कहनी चाहिये। बिल्कुल सीधे ढंग से

१—पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—बिहारी की वाग्विभूति।

बात का महत्त्व बहुत कुछ घट जाता है। सिंह द्वार या सदर फाटक से आक्रमण करने वालों को दृढ़ अवरोध का सामना करना पड़ता है। इसलिये किले में प्रवेश करने के लिये आक्रमणकारी ऐसे किसी किनारे के छोटे-मोटे दरवाजे की टोह में रहते हैं जिसका कोट के निवासियों को उतना ख्याल न हो। दिल में प्रवेश करने के लिये भी बात को ऐसे ही मार्ग ढूँढ़ने चाहिये। विदग्धवाणी को ऐसे मार्ग सहज ही मिल जाते हैं।"[1] उक्ति वैचित्र्य के माध्यम से कवि चतुरतापूर्ण अत्यन्त लघु मर्मभरी वाणी में सहसा हृद्गत भावों का ऐसा रहस्योद्घाटन करता है कि उसकी बातें सीधे हृदय में प्रविष्ट होकर तत्काल ही अपना प्रभाव उत्पन्न कर देती हैं। आकस्मिक प्रयोग के कारण इसकी विदग्धता किसी भी प्रकार से क्षीण नहीं होने पाती और इसका अचानक एवं शीघ्र किया हुआ आक्रमण ऐसा प्रभावशाली सिद्ध होता है कि आक्रान्तों को अवसर न मिलने के कारण इसकी सफलता को निर्विघ्न स्वीकार कर लेना पड़ता है। सतसई की यह प्रमुख शैलीगत विशेषता है जिसका प्रत्येक अवस्था में पाया जाना अनिवार्य है।

श्रृंगारिक एवं ऐहिकतापरक सतसइयों का एकमात्र मूल स्रोत हाल की 'गाथा सप्तशती' ही है जिसे हम सतसई परम्परा की आर्य भूमि के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। इस श्रृंखला की दूसरी कड़ी जिसका पूर्णतः मेल एक दूसरे से बैठ जाता है, वह है संस्कृत में लिखी 'आर्या-सप्तशती'। इस ग्रन्थ की रचना १२वी शताब्दी में पं० गोवर्धनाचार्य ने की थी। गोवर्धनाचार्य बंगाल के राजालक्ष्मण सेन के सभा कवि थे। इसका विकास अठारहवीं शताब्दी में लिखी जाने वाली कवि विश्वेश्वर की 'आर्यासप्तशती' तक होता रहा। संख्यापरक नाम देकर संस्कृत में दर्जनों काव्य लिखे गये हैं। इसमें सन्देह नहीं कि गोवर्धनाचार्य की 'आर्या सप्तशती' की रचना 'हाल' की गाथा सप्तशती के अनुकरण पर ही हुई है, जिसका संकेत भी उनकी रचनाओं में प्राप्त हो जाता है अपनी एक 'आर्या' में उन्होंने लिखा है।

वाणी प्राकृतसमुचितरसा बलेनैव संस्कृतं नीता।
निम्नानुरूपनीरा कलिंदकन्येव गगनतलम्॥

अर्थात् वाणी की वास्तविक सरसता प्राकृत में ही है, जिसे मैं संस्कृत में बलपूर्वक लाने का उसी प्रकार प्रयत्न कर रहा हूँ जैसे नीचे बहने वाली यमुना को आकाशोन्मुख करने का प्रयत्न किया जाय। 'वाणी प्राकृतसमुचितरसा' कहते हुए गाथा सप्तशती पर उनकी दृष्टि थी इसमें सन्देह नहीं और 'बलैनैव संस्कृतं नीता' में ध्वनित होता है कि उन्होंने किसी सीमा तक प्राकृत से अनुवाद किया है[2]।

प्राकृत में पाई जाने वाली सतसई का लिखित सर्व प्रथम रूप 'हाल' की 'गाथा सप्तशती' ही है जिसका ही अनुकरण 'आर्या सप्तशती' में सम्भव है। आर्यासप्तशती में गाथा सप्तशती का विषय और छन्द-संख्या दोनों दृष्टियों से अनुकरण किया गया है। श्री मारकण्डेय पुराणान्तर्गत एक और सप्तशती 'दुर्गासप्तशती' के नाम से मिलती है, किन्तु इसमें केवल

१—श्यामसुन्दर दास—सतसई सप्तक, पृ० ७।

२—श्यामसुन्दर दास—सतसई शप्तक पृ० ११।

नाम साम्य ही है। 'दुर्गासप्तशती' और गाथा सप्तशती में यदि कोई सम्बन्ध हो सकता है तो यही कि उसमें इसकी छन्द संख्या भर का अनुकरण है।

दुर्गासप्तशती में जिस प्रकार केवल छन्द संख्या का साम्य है उस प्रकार की साम्यता को दृष्टि में रख कर हिन्दी कवियो ने भी सतसइयाँ लिखीं जिनमें शृंगारिक तथा सरस ऐहिकतापरक छन्दों अथवा दोहों का नितान्त अभाव है। इन सतसइयों को सूक्ति-सतसई कहना अधिक तर्क संगत जान पड़ता है, क्योंकि इन रचनाओं का प्रधान उद्देश्य उपदेश है, जिनके प्रणयन स्रोत महाभारत में आये विदुर अथवा भीष्म पितामह द्वारा दिये गये नीति के आदर्श उपदेश ही हैं। इनमें आये हुए भक्ति सम्बन्धी कुछ मुक्तको अथवा दोहों को छोड़ कर, जिनकी गणना शान्त रस में की जा सकती है, अधिकांश पद्य सूक्ति मात्र ही हैं। इस प्रकार की सतसइयों में कहा जाता है कि 'रहीम' की एक सतसई थी जिसके लगभग आधे ही छन्द मिलते हैं। किन्तु जब तक इस पूरे ग्रन्थ का पता नहीं चल जाता तबतक इसके सम्बन्ध में साधिकार कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। तुलसीदास और वृन्द की ही दो प्रमुख ऐसी सतसइयाँ है जिन्हें सूक्ति सतसइयो की परम्परा में रख सकते हैं।

तुलसी सतसई की रचना उस समय हुई थी जिस समय गोस्वामी तुलसीदास जी का अत्यधिक झुकाव जानकी जी की ओर हो रहा था—

'वहि रसना थन-धेनु रस, गनपति द्विज गुरुवार।
माधव सित सिय जनम तिथि, सतसैया अवतार॥'

वेणीमाधव दास ने अपने ग्रन्थ 'मूल चरित्र' में सतसई का जो रचना काल लिखा है वही तिथि गोस्वामी जी द्वारा रचनाकाल सम्बन्धी उनके दोहे से भी स्पष्ट होती है। उन्होंने इसका रचनाकाल वैशाख मास सम्वत् १६४२ माना है। इस ग्रन्थ की रचना 'सीता जी' की जन्मतिथि के अवसर पर हुई थी। तुलसी कृत 'सतसई' सात रागो में विभक्त है, जिसके सम्पूर्ण ७४७ दोहों में भक्ति उपासना, पराभक्ति, सांकेतिक वक्रोक्ति द्वारा राम भजन, आत्मबोध, कर्म सिद्धान्त और ज्ञान सिद्धान्त सम्बन्धी विषयों की चर्चा है। अन्तिम सर्ग में राजनीति निरूपण सम्बन्धी दोहों की सृष्टि हुई है इसके अतिरिक्त इसके अन्दर बहुत से ऐसे दोहे प्राप्त हो जाते है जिनकी रचना कबीर की साखियो के ढङ्ग पर हुई है।

वृन्द कवि की सतसई की रचना लगभग गोस्वामी तुलसीदास की सतसई के ११९–१२० वर्ष बाद हुई। इन्होंने इसकी रचना ढाका में सम्वत् १७६१ में की जैसा कि पुस्तक के अन्त में उन्होने स्वयं कहा है—

'सवत् ससि रस वार ससि कातिक सुदि ससि वार।
सातै ढाकै सहर में उपज्यौ इहै बिचार॥ ७०६॥

'वृन्द' ने सत्य स्वरूप, रूप बर्चानिका, अलंकार सतसई, शृंगार शिक्षा, हितोपदेशाष्टक, भावपंचाशिका आदि कई ग्रन्थ लिखे, परन्तु कोई उतना प्रसिद्ध नहीं हुआ जितनी कि वृन्द-विनोद सतसई हुई।[1] इस सतसई के अन्तर्गत कोरे उपदेशों को ही स्थान नहीं

१—श्यामसुन्दर दास—सतसई सप्तक।

दिया गया हैं बल्कि इसमें पाई जाने वाली सूक्तियों में सर्वत्र विदग्धता है। अपने सरस एवं सरल भावों तथा अनोखे दृष्टान्तों के कारण ही इस रचना को जो इतनी ख्याति मिली है उतनी ख्याति गोस्वामी जी की सतसई को भी नहीं प्राप्त हो सकी।

हिन्दी सतसई की परम्परा प्रधानतः श्रृंगार सतसइयो की परम्परा है। इसका प्रारम्भ तुलसी सतसई के पश्चात् और बृन्दसतसई के पहले हुआ। इन श्रृङ्गार सतसइयों में यद्यपि बहुत ऐसे दोहे हैं जो उपदेश और सूक्ति परक हैं तथा उतनी ही उच्चकोटि की कृतियाँ है जितनी कि तुलसी और वृन्द की, किन्तु इन्हें हम सूक्ति सतसइयो की श्रेणी में नहीं रख सकते। इनका प्रधान विषय श्रृंगार है और ये श्रृंगार सतसइयाँ है जिनका प्रचार सूक्ति सतसइयो से कहीं अधिक हुआ।

कुछ विद्वानों का मत है कि हिन्दी श्रृंगार की परम्परा का आरम्भ कविवर 'विहारी' की सतसई से मानना चाहिये। हिन्दी के पूर्ववर्ती सतसईकार 'हाल' की 'गाथा सप्तशती' के द्वारा सतसई की जिस परम्परा का निर्माण हुआ उसकी समस्त विशेषताओं के दर्शन सर्व प्रथम हमें बिहारी 'सतसई' में होते हैं। तीन ग्रन्थ बिहारी के बहुत प्रिय जान पड़ते हैं—'हाल की गाथा सप्तशती, अमरुक का शतक और गोवर्धन की आर्या-सप्तशती'। बिहारी सतसई के दोहों में इन रचनाओं के भावानुवाद यत्रतत्र बिखरे पड़े हैं। बिहारी की कला दूसरों के भावो को काट-छाँटकर, तराश के साथ अपने ढंग से उपस्थित करने में अद्भुत सचेष्ट थी। अधिक असंगत न होगा यदि कहा जाय कि पूर्व-वर्ती कवियों के श्रृंगारिक भावों का कलात्मक रूप ही बिहारी 'सतसई' है। यही कारण है कि विद्वानों ने एक स्वर से सहसा घोषित कर दिया कि हिन्दी सतसई परम्परा का आरंभ कविवर बिहारी की 'सतसैया' से ही होता है। कविवर बिहारी अपनी 'सतसैया' में गाथा सप्तशती की जो ताजगी और दीप्ति नहीं ला सके, वे सभी गुण प्रभूत मात्रा में हमें मतिराम सतसई में मिल जाते हैं।

बिहारी सतसई के आरम्भ और समाप्त होने के पूर्व मतिराम सतसई के अधि-कांश श्रेष्ठ दोहों की रचना हो चुकी थी, उनका ग्रन्थाकार सग्रह चाहे जब किया गया हो। बिहारी सतसई के आरम्भ होने का सूत्र अनुमान से सं० १६९१–९२ तक जाता है। यह एक प्रकार से निश्चित सा जान पड़ता है कि बिहारी सतसई के सभी अथवा अधिकाश प्रमुख दोहों की रचना उसके प्रथम ऐतिहासिक दोहे—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।
अली कली हीं सों बिध्यों, आगे कौन हवाल॥

के पश्चात् ही हुई क्योंकि इसी दोहे से प्रसन्न होकर उनके प्रधान आश्रय दाता राजा जयसिंह ने ऐसे ही रचे जाने वाले दोहों पर एक मोहर प्रति दोहा पुरस्कार देने का अपना निश्चय कविवर को सुनाया और परिणाम स्वरूप सतसई के अन्य मार्मिक एवं सरस दोहों की रचना मोहरों के पुरस्कार के साथ हुई।

कविवर बिहारी नियमानुसार कुछ राजाओं के यहाँ वृत्ति लेने जाया करते थे। इनका जोधपुर और बूँदी में जाना कहा जाता है। ये आगरे भी जाया करते थे। सं० १६९१–९२ के लगभग जब ये अपनी वृत्ति लेने आगरे गये तो पता चला कि महाराज जयसिंह नई व्याह-

लाई हुई रानी पर मुग्ध हो कर महलों में ही पड़े रहते हैं। राज-काज भी संभालना छोड़ दिया है। यह आदेश भी था कि यदि कोई रंग में भंग करेगा तो कुशल नहीं। किसी को कुछ कहने कहलाने का साहस नहीं था। प्रधान महारानी श्री अनंतकुमारी (चौहान रानी) इस घटना से बहुत व्यग्र थीं। बिहारी ने अपना समाचार राजा तक पहुँचाने का बहुत उद्योग किया, पर किसी को साहस नहीं हुआ।[1] महारानी की अत्यधिक चिन्ता और मंत्रियों के आग्रह पर बिहारी ने उपरोक्त दोहे के आधार पर राजा जयसिंह को सचेष्ट किया। कविवर बिहारी मुगल सम्राट शाहजहाँ के अत्यन्त कृपापात्र थे और जयसिंह पर उसकी दृष्टि बराबर लगी रहती थी जिससे वे आश्वस्त थे कि राजा जयसिंह उसे छेड़कर सम्राट का कोपभाजन नहीं बन सकते और ऐसा ही हुआ। जयसिंह को दोहा पढ़ते ही चेत आ गया। 'आगे कौन हवाल' की गूढ़ व्यंजना भी राजा को सूझ गयी। 'इस तरह बेखबर रहोगे तो आगे कैसे निभेगी। शाहजहाँ तुमसे भिड़ने का अवसर ही देख रहा है। महाराज ने बिहारी का बड़ा उपकार माना। बहुत सी स्वर्णमुद्राये उन्हें भेटकर उन्होंने उनका सम्मान किया और आगे के लिये भी प्रति दोहा एक अशर्फी देने की प्रतिज्ञा की।[2] इस प्रकार बिहारी की सतसई राजाश्रय में प्राप्त कृपा और धन-सम्पत्ति के बीच की रचना है, जो कम से कम सम्वत् १७०३ के पूर्व तो समाप्त नही ही हो सकी थी। बाबू श्यामसुंदर दास ने इसका समाप्तिकाल सम्वत् १७०४ का शीतकाल माना है और जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने भी लगभग यही स्वीकार किया है[3]। क्योंकि सतसई के अन्तिम दोहे में बलख की लड़ाई का उल्लेख है जो इसी सम्वत् में हुई थी और जिसमें राजा जयसिंह ने औरङ्गजेब की बड़ी सहायता की थी। इस युद्ध में राजा जयसिंह ने जिस रण कौशल का परिचय दिया था उसका संकेत बिहारी सतसई के इस दोहे में स्पष्ट रूप से उद्धृत है—

> या दल काढ़े बलखतैं तै जयसिंह भुंवाल।
> उदर अघासुर कै परै ज्यौं हरि गई गुवाल ॥७११॥

बिहारी के दोहों को शृङ्गार परक मुक्तकों का सर्वप्रथम नमूना मानने में एक और आपत्ति जान पड़ती है, वह है उनकी अन्यतम प्रौढ़ता। दोहों का काव्य में प्रयोग कबीर, जायसी तथा तुलसी की और रचनाओं में आकर मज अवश्य गया था, किन्तु शृङ्गारिक दोहों में प्रौढ़तम रचना करने वाले प्रथम और अन्तिम कवि बिहारी ही हैं। उनके दोहों में प्रौढ़ता से तात्पर्य हमारा उनकी कलागत प्रौढ़ता से हो है, भावगत नही। भावों की स्वाभाविकता उनकी कलाबाजी एवं मठार के कारण दब सी गई है जो काव्य का प्राण है। यही कारण है कि बिहारी के दोहे बुद्धि को जितनी चमत्कृत करते हैं, हृदय को रस में उतना नहीं डुबोते। भावों की स्वाभाविक आधार भित्ति पर ही बुद्धि तथा कला को अपनी कारीगरी दिखाने का अवसैर मिलता है। कला एवं वैलक्षण्य काव्य में सहसा उत्पन्न नहीं होता बल्कि उसके लिये उसे विकास की आरम्भिक पगडंडियों पर चलना पड़ता है। बिहारी

१—बिहारी-विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० १०३।
२—सतसई सप्तक-श्यामसुन्दर दास, पृ० २४-२५।
३—'कविवर बिहारी'—जगन्नाथदास 'रत्नाकर' पृ० ३१६

के दोहे मंजिल तक ले जाने वाली सीढ़ियां नहीं बल्कि मंजिल है, जिसकी आधार भूमि कविता में पहले ही से अवश्य वर्तमान थी। या तो प्रारम्भिक रचनाओं को संग्रह का स्वरूप प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ या वे बिहारी सतसई के पूर्ण प्रसिद्ध हो जाने के पश्चात् सामने आईं। ऐसी ही कुछ स्थिति 'मतिराम' सतसई की है जो हिन्दी जगत में तत्काल बिहारी सतसई से पूर्व की रचना होते हुए भी प्रसिद्धि नही पा सकी। इसकी स्थिति हिन्दी जगत में तत्काल बिहारी सतसई के समान जो नहीं हो पाई उसके लिये 'मतिराम' के 'रसराज' की अत्यधिक प्रसिद्धि ही उत्तरदाई है।

मतिराम के उत्कृष्टतम नायिका भेद ग्रन्थ 'रसराज' की रचना बिहारी सतसई के आरम्भ होने से पूर्व ही सम्वत् १६९० के आस पास हो चुकी थी जिसमें 'मतिराम' सतसई के लगभग १२५ उत्कृष्टतम दोहे पाये जाते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जब सम्वत् १६९१ के आपपास बिहारी सतसई का प्रथम दोहा साभिप्राय लिखा गया तो उस समय तक 'मतिराम' सतसई के उत्तम दोहों की रचना हो चुकी थी। मतिराम सतसई किसी परिस्थिति विशेष की ही न तो रचना है और न तो उसकी रचना 'मोहरों' के नुस्खे पर ही की गई है। इस कवि ने समय समय पर अपने मस्ती के क्षणों में लिखा है जिससे उसके हृदय की सहज एवं स्वाभाविक अनुभूतियाँ सरलतम भाषा में मर्मस्पर्शी प्रभावो के साथ अभिव्यक्त हुई हैं। इनके दोहों में बिहारी के दोहों की भाँति न तो तराश-मठार है और न ये बुद्धि को ही चमत्कृत करने का प्रयत्न करते जान पड़ते हैं।

बिहारी 'सतसई' मतिराम 'सतसई' के बाद की रचना होते हुए भी हिन्दी जगत को उससे अधिक आकर्षित कर सकी इसमें सन्देह नहीं। इसके ७१३ दोहों में शृंगारी साहित्य की रचना अपनी चरमसीमा को पहुँच गई है। उक्ति वैचित्र्य तथा वाग्विदग्धता का ऐसा अनुपम उदाहरण एक ही स्थान पर तो समस्त हिन्दी काव्य में ढूँढने पर भी नहीं मिल सकता। रीतिमुक्त कविता होने पर भी इसके दोहो में नायिका भेद सम्बन्धी उत्तमोत्तम उदाहरण भरे पड़े हैं। बिहारी के सामने रचना करते समय 'नायिका भेद' सम्बन्धी हिन्दी की रचनायें अवश्य थीं, जिनका चरम परिपाक 'मतिराम द्वारा' रचित 'रसराज' में उपस्थित किया जा चुका था। इनके पूर्व सूक्ति सतसइयों की रचनायें हो चुकी थी और उनका तत्कालीन समाज में काफी प्रचलन भी हो चुका था जिससे इनके कुछ दोहों पर उनका अनिवार्य प्रभाव पड़ा है। सूक्ति अथवा उपदेशपरक बिहारी के दोहे भी अत्यन्त उत्तम बन पड़े हैं।

'हाल' की गाथा सप्तशती ऐसी रचनाओं का प्रथम संग्रह है और बिहारी लाल की 'सतसई' इस परम्परा में ही पड़ती है। इसके बाद भी सतसइयों की रचना होती अवश्य रही पर कीर्ति में कोई इसके निकट नहीं पहुँच सकी।[1]

रसनिधि सतसई कवि रसनिधि जिनका वास्तविक नाम पृथ्वी सिंह था, 'रतनहजारा' का संक्षिप्त रूप है। इनका रचनाकाल सवत् १६६० और संवत् १७१७ के बीच का है। इनके दोहों में लौकिक प्रेम की सरस अभिव्यक्ति को अत्यधिक स्थान मिला है जिसमें

१—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य पृ० ३२६।

वैयक्तिकता के आग्रह का प्राधान्य हो जाने के कारण अनेक स्थलों पर अश्लीलता भी आ गई है। इनके कुछ दोहों पर 'सूफियों' का प्रभाव जान पड़ता है जिनमें उन्होंने आत्मतत्व सम्बन्धी विषयों पर कुछ कहने की चेष्टा की है।

रसपूर्ण ७२७ दोहे 'राम सतसई' के नाम से संग्रहीत हैं। इसकी रचना महाराज उदित नारायण सिंह काशी नरेश के आश्रित कवि 'राम' ने की थी, जिनका उपनाम 'भगत' था। इनका कविता काल संवत् १८६० से १८८० तक ठहरता है। इनकी सतसई मतिराम सतसई की ही भाँति सरस एवं स्वाभाविक है।

विक्रम सतसई के रचयिता बुन्देलखण्ड की चरखारी रियासत के राजा महाराज विक्रमसाहि हैं जिनका पूरा नाम विक्रमादित्य था। 'मतिराम' के वंशज बिहारीलाल जो सतसैयाकार बिहारी से भिन्न थे, को इन्हीं महाराज के दरबार में आश्रय मिला था। इनका राजत्व काल संवत् १८३९ से संवत् १८८६ तक रहा जिसके बीच ही में कभी इस ग्रंथ की रचना सम्पन्न हुई थी। इनकी कविता उच्च साहित्यिक कोटि की नहीं है, किन्तु दोहे अत्यन्त सरस हैं। इनकी सतसई बिहारी सतसई का अनुकरण है जिनमें दोष प्रभूत मात्रा में विद्यमान हैं। बात सीधे सादे ढंग से कही गई है।

पूर्ववर्ती साहित्य का हिन्दी सतसइयों पर प्रभाव—

पूर्व में ही कहा जा चुका है कि हिन्दी मध्यकाल के दरबारी कवियों के सम्मुख पूर्ववर्ती साहित्य की अक्षनिधि वर्तमान थी जिसका उन्हें उपयोग भर करना था और उन्होंने उसका उपयोग भी किया। काव्यशास्त्र सम्बन्धी रचनाओं में तो एक प्रकार से संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद ही करके हिन्दी कवियों ने रख दिया। इसके अतिरिक्त उपदेशपरक और शृंगार सम्बन्धी कविताओं पर भी पूर्ववर्ती साहित्य का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। इसका भी उल्लेख किया जा चुका है कि 'हाल' की 'गाथा सप्तशती' तथा गोवर्धनाचार्य की 'आर्यासप्तशती' का प्रभाव हिन्दी की सतसइयो पर पड़ा। हिन्दी के कवियों ने यह प्रभाव कई दृष्टियों से ग्रहण किया जिसकी भी चर्चा हो चुकी है जहाँ तक संख्या एवं शैली का सम्बन्ध है सभी के नाम सात सौ के आधार पर रखे गये और उनकी रचना मुक्तक छन्द अथवा दोहों में हुई। जहाँ तक भाव साम्य का प्रश्न है, कुछ कवियों में अत्यधिक पाया जाता है और कुछ में कम या पाया भी जाता है तो उसको ऐसा रूप प्रदान कर दिया गया है कि वह कवि का अपना हो गया है। मतिराम और बिहारी की सतसइयों का निर्माण हो जाने के पश्चात् हिन्दी के बाद में आने वाले कवियों ने 'गाथा सप्तशती' कार तथा 'आर्यासप्तशती' कार का भावसाम्य ग्रहण न करके इन्हीं दोनों कवियों के भावसाम्य को ग्रहण किया है। बिहारी के दोहों में 'मतिराम सतसई' के दोहों तथा 'गाथा सप्तशती' के मुक्तकों, दोनों के भाव साम्य प्रभूत मात्रा में पाये जाते हैं। मतिराम के जिन दोहों के भावसाम्य बिहारी के दोहों में मिलते हैं, उनमें बिहारी की कारीगरी स्पष्ट है। अपनी जिन स्वाभाविक अनुभूतियों को मतिराम ने कला के आग्रह से विरत होकर दोहों का रूप दिया है, उन्हीं को बिहारी ने दोहों में कलात्मक तथा तर्क संगत रूप प्रदान किया है। बिहारी सतसई के कुछ दोहे तो ऐसे हैं जो 'गाथा सप्तशती' के भावानुवाद जान पड़ते हैं।

पूर्ववर्ती प्राकृत एवं संस्कृत सतसइयों का जितना अधिक प्रभाव बिहारी सतसई पर लक्षित होता है उतना हिन्दी की अन्य सतसइयों पर नहीं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि गाथा सप्तशती और बिहारी सतसई में कोई अन्तर ही नहीं है।"'सिर्फ बिहारी ही नहीं, उनके बाद के संस्कृत पढ़े-लिखे हिन्दी श्रृंगारी कवियों ने भी इन तीनों ग्रन्थों से बहुत प्रेरणा प्राप्त की है। कई कवियों ने इन ग्रंथों के श्लोकों का अक्षरशः अनुवाद कर दिया है और कई लेखकों ने स्थान-स्थान पर इनके भावों का छायानुवाद किया है। साहित्य के मर्मज्ञ आलोचकों ने बताया है कि गोवर्द्धन की 'आर्यासप्तशती' में भी हाल की भाँति सरसता, उल्लास और ताजगी नहीं है। बिहारी इस विषय में शायद गोवर्द्धन से भी अधिक सौभाग्यशाली हैं।[१]

बिहारी सतसई के पूर्व 'गाथा सप्तशती' और 'आर्यासप्तशती दो प्रमुख सतसइयाँ विद्यमान थीं जिनका अत्यधिक प्रभाव बिहारी की रचनाओं पर पड़ा है। इनके प्रसिद्ध ऐतिहासिक दोहे—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहिं काल।
अली कली ही सौं बिंध्यौ, आगे कौन हवाल॥

पर 'गाथा सप्तशती' कार का प्रभाव स्पष्ट है। उसने भी इसी प्रकार की उक्ति कही है—

जावण कोस विकास पावइ ईसीस मालई कलिआ।
मअरन्द पाणलोहिल्ल भमर तावच्चि अमलेसि॥

—गाथासप्तशती

इसी से कुछ मिलता जुलता 'आर्यासप्तशती' कार ने भी लिखा है—

पिब मधुप बकुल कलिका दूरे रसनाग्रमात्रमाधाय।
अधरविलेपसमाप्ये मधुनि मुधा वदन मर्प्यसि॥

और श्रीमती विकट नितम्बा जी भी इसी स्वर में मिलाकर कहती है—

'अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृंग!
लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु।
मुग्धामजातरजसं कलिकामकाले
व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमल्लिकायाः॥'

गाथाकार ने नादान भौंरे के नादानी की चुटकी ली है, जो अविकसित अवस्था में ही मालती कलिका का अपनी अज्ञानता के कारण मर्दन कर रहा है, आर्याकार 'मालती कलिका मर्दन कारी भ्रमर को छोड़कर बकुल कलिका को कदर्थित करने वाले भौंरे के पास पहुँचकर दूर खड़े उपदेश दे रहे हैं कि यों नहीं यों रसपान करो नहीं तो कुछ पल्ले न पड़ेगा।[२]' विकट नितम्बा जी का इन दोनों से अद्भुत है किन्तु अत्यन्त विस्तृत है। वह भ्रमर को दूसरी जगह खिले चमन में पेट भर कर जी बहलाने का उपदेश दे रही हैं। बिहारी को

१—हिन्दी साहित्य—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ३२७।

२—पद्मसिंह शर्मा—बिहारी की सतसई पृ० ४०

अपने नादान भौंरे की नादानी देखकर उसके भविष्य की चिन्ता होती है, कि जब वह अभी पराग विहीन कलिका के फंदे में ही इतना बेसुध हो गया है, तो उसके परागयुक्त हो जाने पर उसकी क्या अवस्था होगी। उन्हें भोली भाली कलिका की उतनी चिंता नहीं जितनी कि नादान भौंरे की है। इस प्रकार की अन्योक्ति कहने की बात बिहारी की कोई अपनी मौलिक उद्भावना नहीं है बल्कि राजदरबारों में प्रायः इस प्रकार की उक्तियों के कारण कविगणों को सम्मान मिलता रहा है। कहा जाता है कि महाकवि चन्द बरदायी ने भी अपने आश्रयदाता महाराज पृथ्वीराज को एक बार ऐसी ही अवस्था से मुक्त किया था। 'संयोगिता' हरण के पश्चात् पृथ्वीराज उसके सौन्दर्य पर इतने रीझ गये थे कि उन्होंने सारा राज काज छोड़कर केवल नई रानी 'संयोगिता' के साथ केलिभवन में ही अपना सारा समय बिताना आरम्भ कर दिया। किसी भी शूर-सामन्त को पृथ्वीराज तक पहुँचने की अनुमति नहीं थी, और उसी समय राज्य पर मोहम्मद गोरी का आक्रमण भी हुआ। ऐसी विषम परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी कि जिससे छुटकारा पाना अत्यन्त कठिन हो गया। बिहारी की ही भाँति कवि 'चन्द' ने अपनी अनूठी उक्ति के द्वारा पृथ्वीराज को अपने कर्तव्यों से अवगत करा के उसे विलास-निद्रा से मुक्त कर दिया। उन्होंने अपना छन्द सम्भवतः कागज की नाव बनाकर नाबदान के मार्ग से पृथ्वीराज के स्नानागार तक पहुँचाया था जिसे पढ़कर पृथ्वीराज फड़क उठे थे—

> 'इत गोरी गर लाय तू भोगत सम्भरि राय।
> भोगत राज श्री हू उत गोरी गर लाय॥

इस प्रकार की उक्तियां सामन्ती वातावरण में ही उत्पन्न होकर सम्मान पाती हैं।

परदेशी पति अल्पकाल तक ही अपनी प्रेयसी के पास रहकर पुनः परदेश जाना चाहता है जिससे नायिका अत्यन्त दुखी होने लग जाती है। इस अवस्था का चित्रण 'गाथाकार' और 'सतसैया कार' दोनों ने ही किया है।

> 'अव्वौं दुक्कर आरअ पुणों वितन्ति केरसि गमणस्स।
> अज्जविण होंति सरला वेणीअ तरंगिणो चिउरा॥
>
> : गाथा सप्तशती :

> अजौ न आये सहज रंग, बिरह दूबरेगात।
> अबही कहा चलाइयति, ललन चलन की बात॥
>
> : बिहारी सतसई :

गाथाकार की नायिका वियोग जनित दुःख के कारण श्रृंगार आदि प्रसाधनों से विरत हो गई थी और पति के लौट आने पर अपने वियोग काल में बिखरे-रूखे-उलझे केशों को पुनः सुलझाने लगी थी जिनकी उलझन अभी पूर्णतः दूर नहीं हो पायी है, उनका श्रृंगार अभी अधूरा ही है किन्तु प्रियतम को पुनः जाने के लिये तैयार बैठा देखकर वह अत्यन्त विस्मय में पड़ जाती है तथा अपनी अवस्था को प्रकट कर उसे प्रवास से विरत करने की चेष्टा करती है। बिहारी की नायिका की स्थिति थोड़ी गाथाकार की नायिका से अधिक दयनीय है। वह वियोग काल में अत्यन्त क्षीणकाय हो गयी थी जिससे प्रियतम के आ जाने पर भी

अभी उसका स्वास्थ्य अपनी स्वाभाविक स्थिति को नहीं प्राप्त कर सका है, जिसे वह नायक पर व्यक्त कर उसके मन में करुण भाव उत्पन्न करना चाहती है जिससे वह परदेश गमन के विचार से विरत होकर उसके पास रुक जाय। इस प्रकार अनेक दोहे बिहारी सतसई में भरे पड़े हैं जिनमें सतसईकार 'गाथाकार' की रचनाओं से उपकृत हुआ है।

'गाथासप्तशती' का प्रभाव 'आर्यासप्तशतीकार' पर भी पड़ा था और हिन्दी सतसई-कारों पर 'गाथासप्तशती' और 'आर्यासप्तशती' दोनों का प्रभाव पड़ा है। 'आर्या' तथा सतसईकार दोनों ने प्रेम और मर्यादा के बीच दौड़ लगाने वाली नायिका को 'नाव' का रूपक दिया है, जो किनारे न लगकर बार-बार भँवर में चक्कर खाती रहती है और नाविकों द्वारा प्रयत्न करने पर भी किनारे नहीं लाई जा पाती। वह नायक के प्रेम में फँसकर अपनी समस्त कठिनाइयों तथा सीमाओं के बावजूद भी चाहकर प्रेम से विरत नहीं हो पाती और बार-बार उसी प्रेमी की ओर दौड़ जाती है—

भ्रामं भ्रामं स्थितया स्नेहे तव पयसि तत्र तत्रैव।
आवर्तपतितनौकायितमनया विनयमपनीय ॥'

: आर्यासप्तशती :

'फिर फिर चित उतहीं रहत, टुटी लाज की लाव।
अंग अंग छवि भौर में, भयौ भौर की नाव ॥'

'आर्या' की नायिका को उसकी सखी सीख देती है कि उसे अपनी मर्यादाओं का ध्यान कर असामाजिक प्रेम से विरत हो जाना चाहिये किन्तु वह प्रेमाधिक्य के कारण उसी प्रकार अपने प्रेमी अथवा प्रेम की ओर दौड़ जाती है जिस प्रकार किनारे पर लाई जाने वाली नाव किनारे पर आकर जलावर्त में ही घूम जाती है और वहीं चक्कर काटने लग जाती है। बिहारी की भी नायिका सामाजिक मर्यादा और लज्जा को तिलाजलि दे चुकी है। जिस प्रकार रस्सी या गुन के टूट जाने पर जल में पड़ी नौका भवरों में चक्कर काटती फिरती है उसी प्रकार उनकी नायिका भी लाज रूप गुन के टूट जाने से नायक के अंग-प्रत्यंग के सौन्दर्य रूपी भँवर में पड़कर प्रेम के पीछे चक्कर काटती फिरती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कविवर बिहारी को जो भावभूमि पूर्ववर्ती कवियों से मिली है उस पर उन्होंने अपनी प्रतिभा एवं कला का चमत्कार दिखाया है।

आर्यासप्तशती की एक नायिका बाल सँवारते समय भी गर्दन को तिरछी किए झुकी हुई उलटे बैठे रहने पर भी अंगुलियों से बालों के बीच जगह बनाकर सबकी आँख बचाकर प्रियतम को देख लेने में सफल हो रही है उसी को बिहारी ने भी अपने दोहों में बाँधा है—

'चिकुरविसारणतिर्यगात्त कंठी विमुखवृत्तिरपि बाला।
त्वमियमंगुलिकल्पितकचावकाशा विलोकयति।' २३१

: आर्यासप्तशती :

'कंजननयनि मंजन किये, बैठी कौरति बार।
कच अंगुरिन बिच दीठि दै, चितवति नन्द कुमार ॥'

: बिहारी :

इसी प्रकार उन्होंने संस्कृत के शृंगारी मुक्तकों के भी भाव ग्रहण किए हैं। बिहारी की नायिका बहाना बनाकर सोते हुए पति को सचमुच सोया हुआ समझकर एकांत में उसका चुम्बन करती है और चुम्बन का पूर्ण आनन्द उठा कर नायक को हंसता देख वह अत्यन्त खिसियाकर नायक के गले से लिपट कर रह जाती है। जो अमरुक शतककार के एक मुक्तक की छाया मात्र ही जान पड़ता है।

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किंचिच्छनैः
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता।
'विश्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गंडस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता॥

: अमरूक शतक :

में मिसहा सोयौ समुझि, मुँह चूम्यौ ढिग जाय।
हँस्यौ खिस्यानी गर गह्यौ, रही गरै लपटाय॥'

: बिहारी सतसई :

भ्रमर की स्वाभाविक चंचल वृत्ति की ओर सकेत करते हुए सिद्ध हेमचन्द्र के एक दोहे में भ्रमर को सम्बोधित करके उसे तब तक नीबड़ी पर ही संतुष्ट रहने का उपदेश दिया गया है। जब तक कि सघन पत्तों वाला छाया बहुल कदम्ब पुष्पित नही हो जाता। इससे ही मिलता जुलता दोहा बिहारी सतसैया में भी विद्यमान है।

मभरा एत्थु विलिम्बडै केविदिहडा विलम्बु।
घणपतुल छाया बहुल फुल्लई जाम कयम्बु॥

: सिद्ध हेम चन्द :

इहीं आस अटक्यौ रहै, अलि गुलाब के मूल।
ह्वैहैं बहुरि वसंत ऋतु इन डार न वैफूल॥

: बिहारी सतसई :

इसी प्रकार सिद्ध हेमचन्द्र में संग्रहीत और भी कई दोहों के प्रभाव बिहारी ऐसे परवर्ती कवियों ने ग्रहण किये हैं।

तप्ते महाविरहवह्निशिखावलीभि—
रापाण्डुरस्तनतटे हृदये प्रियायाः।
मन्मार्गवीक्षणनिवेशितदीनदृष्टे—
र्नूनं छमच्छमिति वाष्पकणाः पतन्ति॥

: अमरुक शतक :

"पलिन प्रगटि वरुनीनि बढ़ि नहिं, कपोल ठहराय।
अंसुवा परि छतिया छनक, छनछनाय छपि जाय॥"

: बिहारी :

त्वं मुग्धाक्षि विनैव कञ्चुलिकया धत्से मनोहारिणीं
लक्ष्मीमित्यभिधायिनि प्रियतमे तद्वीटिकासंस्पृशि ।
शय्योपान्तनिविष्टसस्मितसखी नेत्रोत्सवानन्दितो
निर्यातः शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजनः ।।"

: अमरुक शतक :

पति रति की बतियाँ कही, सखी लखी मुसकाय ।
कै कै सबै टला टली, अली चलीं सुखपाय ।।

: बिहारी सतसई :

मति राम सतसई कार ने भी अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के भावों को ग्रहण किया है, किन्तु सतसई की अपेक्षा उन्होंने अपनी अन्य रचनाओं में कहीं अधिक सफलता के साथ पूर्वाचार्यों के भावों को कलात्मक रूप देने का प्रयत्न किया है। बिहारी की मुख्य रचना भूमि बिहारी सतसई ही रही जिससे उन्हें सबकुछ दोहों के माध्यम से ही कहना था किन्तु मतिराम के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं थी क्योंकि उन्होंने सतसई के अतिरिक्त अन्य प्रकार की भी रचनायें की हैं। यही कारण है कि पूर्ववर्ती कवियों के भाव उनकी सतसई में जितने नहीं आये हैं उस से कही अधिक उनकी अन्य रचनाओं में पाये जाते हैं। 'गोवर्धनाचार्य' की 'आर्यासप्तशती' में एक युवती के कटाक्ष का वर्णन है—

परमोहनाय मुक्तो निष्करुणे तरुणि तव कटाक्षोयम् ।
विशिख इव कलितकर्णः प्रविशति हृदयं न निःसरितः ।।

: आर्या सप्तशती :

उपर्युक्त आर्या में युवती के कटाक्ष द्वारा कान तक खींच कर चलाये गये नयन वाण नायक के हृदय में प्रविष्ट होकर पुनः बाहर आना ही नहीं जानते क्योंकि वे सीधे नहीं चलाये गये थे। इसी भाव को लेकर मतिराम ने अत्यन्त अनुपम घनाक्षरी लिखी है जो 'रसराज' और 'ललित ललाम' दोनों में संग्रहीत है।

"आलस वलित कोरे काजर कलित
मतिराम वै ललित अति पानिप धरत हैं,
सरस सरस सोहैं सजल सहास
सगरब सविलास ह्वै मृगीन नियरत हैं।
बरुनी सघन बंक तीछन कटाक्ष बड़े
लोचन रसाल उर पीर ही करत हैं,
गाढ़े ह्वै गड़े हैं न निसारे निसरत मैन,
वान से न अड़े हैं विसारे विसरत हैं ।।"

: मतिराम :

पूर्व ही उल्लेख किया जा चुका है कि सामन्ती संस्कृति में लिखी गई रचनाओं में लोक जीवन एवं मौलिकता का नितान्त अभाव है। प्राचीन संस्कृति के सरस श्रृङ्गारी मुक्तकों के अनूठे भावों पर ही अपनी भाषा का आवरण चढ़ाकर कला के माध्यम से हिन्दी

कवियों ने अपना बनाकर उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। संस्कृत के अतिरिक्त हिन्दी के भी पूर्ववर्ती एवं समकालीन कवियों के भावों को सतसईकारों ने आंशिक परिवर्तन के साथ ग्रहण करने का असफल प्रयास किया है। जिसके कतिपय उदाहरण पर्याप्त होंगे—

केस मुकुत सखि मरकत मनिमय होत।
हाथ लेत पुनि मुकता करत उदोत॥

: तुलसी :

मुकुत हार हरि के हिये, मरकत मनिमय होत।
पुनि पावत रुचि राधिका, मुख मुसकानि उदोत॥

: मतिराम :

सिय तुव अंग रंग मिलि अधिक उदोत।
हार वेलि पहिरावौ चम्पक होत॥

: तुलसी :

"हीरनि मोतिन के अवन्तसनि सोने के भूषन की छवि छावै,
हार चमेली के फूलन के तिनमें रुचि चम्पक की सरसावै।
अंग के संगतै केसरि रंग की अम्बर सेत में ज्योति जगावै,
बाल छबीली छपाये छपै नहीं लाल कहौ अब कैसे क आवै॥"

: मतिराम :

"दृग अरुझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हियें, दई नई यह रीति।"

: बिहारी :

"उरझत दृग बंधि जात मन, कहो कौन यह रीति।
प्रेम नगर में आयकै, देखी बड़ी अनीति।"
"अद्‌भुत गति यह प्रेम की, लख्यौ सनेही जाय।
जुरे कहूँ टूटै कहूँ, कहूँ गाँठ परिजाय॥"

: रसनिधि :

"लाल तिहारे नैन सर, अचिरज करत अचूक।
बिन कंचुक छेदे करै, छाती छेदि छटूक॥"

: मतिराम :

"अवलग वेधत मन हते, दृग अनियारे बान।
अब बंसी बेधन लगी, सत सुरन सौं प्रान॥"
"चतुर चितेरे तुव सबी, लिखत न हिय ठहराइ।
कलम छुवत कर आंगुरि, कटी कटाछन जाइ॥"

: रसनिधि :

"लिखनि बैठि जाकी सबी, गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर॥"

: बिहारी :

"स गरब गरब खिचैं सदा, चतुर चितेरे आय।
पर वाकी बाँकीं अदा, नेक न खींची जाय ॥"

: रामसहाय :

"आवन उठि आदर कियो, बोली बोल रसाल।
बांह गही नंदलाल जब, भये बाल दृग लाल ॥"

: मतिराम :

"कहुँ निशि मैं बसि मयन बस, आये भवन उताल।
लाल नयन में बाल के, लाल नयन लखि लाल ॥"

: रामसहाय :

"पाइ महावरु दैन को, नाइन बैठी आइ।
फिरि फिरि जानि महावरी, एड़ी मीड़ति जाइ।"

: बिहारी :

"सहज अरुन एड़ीनि की, लाली लखै विसेखि।
जावक दीवैं जकि रही, नाइन पाइन पेखि ॥"

: विक्रम सतसई :

"प्रान नाथ परदेश कौं, चलिये समौ बिचारि।
स्याम नयन घन बाल के, बरसन लागे वारि ॥"

: मतिराम :

"माँगी बिदा विदेश कौं, दै जराइ अनमोल।
बोली बोल न सुघर हिय, दिये अलाप हिंडोल ॥"

: बिक्रम सतसई :

"मतवारे दृग-गज कहूँ, ऐसे दीजत छोड़।
तेही-दृग-तन क्यौं रुकैं, इनकी झोकैं जोड़ ॥"

: रसनिधि : २०३ :

"तोरति कानि जंजीर हठ, पल अंकुस न डरात।
लाज अगड़ कबहूँ न रुकत, दृग मतंग चल जात ॥" १९८॥

: विक्रम सतसई :

"छैल छबीली की छटा, लहि महावरी संग।
जानि परै नाइन लगै, जबहि निचोरन रंग ॥"

: राम सहाय :

श्रृंगारिक प्रवृत्तियाँ

काव्य के क्षेत्र में श्रृंगार की सर्वप्रियता सर्वमान्य है। अपनी कतिपय विशेषताओं के कारण 'श्रृंगार' कवियों के लिये अत्यन्त महत्त्व रखता है क्योंकि इसके द्वारा काव्य में अनुभावों की जितनी चर्चा की जा सकती है, उतनी अन्य किसी द्वारा नहीं। आचार्यों ने रसों की कुल सख्या ९ मानी है तथापि श्रृंगार रस को अन्य रसों से अधिक महत्त्वपूर्ण बतलाया है :

नवहू रस को भाव बहु, तिनके भिन्न विचार।
सबको 'केशवदास' कहि, नायक है सिंगार॥

: केशव :

भूलि कहत नवरस सुकवि, सकल मूल सिंगार।
जो संपति दंपतिन की, जाकौ जग विस्तार॥
विमल सुद्ध सिंगार रस, 'देव' अकास अनंत।
उड़ि-उड़ि खग ज्यों और रस, विवस न पावत अंत॥

: देव :

नव रस को पति सरस अति रस सिंगार पहिचानि।

: सोमनाथ :

नव रस में सिंगार रस, सिरे कहत सब कोइ।

: पद्माकर :

कुछ विद्वानों का मत है कि श्रृंगार रस से ही अन्य रसों की उत्पत्ति होती है। पर इतना तो स्वीकार किया ही जा सकता है कि अन्य रसों की उत्पत्ति श्रृंगार रस के बाद हुई। "अग्निपुराण में लिखा है कि परब्रह्म परमात्मा के 'अहंकार' से 'ममता' और 'ममता' के रूपान्तर से 'श्रृंगार रस' की उत्पत्ति हुई है, अतः श्रृंगार रस ही आदि रस है। अन्य रसों की सृष्टि उसके बाद की है। श्रृंगार ही सृष्टि-सृजन का कारणीभूत है और विश्व प्रपंच का आधार है, अतः उसका आदि रस होना स्वयं सिद्ध है।"[१] अग्निपुराणकार ने स्पष्ट कर दिया है कि जिस अहंभाव से अभिमान 'ममता' की उत्पत्ति हुई, जो संसार भर में व्याप्त है उसी ममता संकलितअभिमान से 'रति' की उत्पत्ति हुई और इसी 'रति' से श्रृंगार रस का जन्म हुआ है—

"अक्षरं ब्रह्म परमं सनातनमजं विभुम्,
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते सद्वदाव्य न,

१—नायिका भेद और श्रृंगार-विवेचन—प्रभुदयाल मीतल, पृ० १४।

व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया ।
आद्यस्तस्य विकारो यः सोऽहंकार इतिस्मृतः ॥
ततोऽभिमानस्तत्रेदं समासं भुवनत्रयम् ।
अभिमानाद्रतेत सा च परिपोषमुपेयिषु ॥
रागाद्भवति श्रृङ्गारो रौद्रस्तेन मानश्च जायते ।
वीरोऽवष्टम्भजः सकोचभूर्वीभत्स इष्यते ॥
श्रृङ्गाराज्जायते हासो रौद्रात्तु करुणो रसः ।
वीराच्चाद्भुतनिष्पत्तिः स्याद्बीभत्साद् भयानकः ॥
—अग्निपुराण

श्रृङ्गार शब्द की व्याख्या करते समय साहित्य दर्पणकार ने लिखा है—

"श्रृंगहि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः
उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः श्रृंगार इष्यते ।"
—साहित्यदर्पण ।

अर्थात् "कामदेव के उद्भेद को श्रृंगार कहते हैं और इसके आगमन के हेतु उत्तम-प्रकृति-प्राय रस को श्रृंगार कहा जाता है । पर-स्त्री तथा अनुराग शून्य वेश्या को छोड़ कर अन्य नायिकायें तथा दक्षिण आदि नायक इस रस के आलंबन विभाव माने जाते हैं । चन्द्रमा, चन्दन, भ्रमर आदि इसके उद्दीपन विभाव होते हैं । अनुराग पूर्ण भृकुटि भंग और कटाक्ष आदि इसके अनुभाव होते हैं । उग्रता, मरण, आलस्य और जुगुप्सा को छोड़कर अन्य निर्वेदादि इसके संचारी भाव होते हैं ।"[१] 'श्रृंगार' शब्द 'यौगिक' है और 'श्रृंग' और 'आर' दो शब्दों के संयोग से बना है । जिसका तात्पर्य काम वृद्धि की प्राति से है । "चूँकि स्थायी-भाव 'रति' विभाव, अनुभाव और सचारी भावों के एकीकरण से रस संज्ञा को प्राप्त हो कर कामीजनों के चित्त में काम की वृद्धि करता है, इसीलिए वह 'श्रृङ्गार' कहलाता है"[२]

'प्रेम' श्रृङ्गार के मूल में वर्तमान रहता है जो सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है । "मनुष्य ही नहीं प्राणीमात्र प्रेम से प्रभावित होते हैं । प्रातः काल उषा को अरुण राग रंजित गोरे कात रवि वर आमीड़ से सुसज्जित देखकर विहंगवृन्द अपना अलौकिक गान प्रारम्भ कर देते हैं । विकसित पुष्पों को देखकर भृंग गुञ्जार करने लगते हैं । कुसुमाकर जब कुसुमावलि कामाल्य धारण कर दिशाओं को सुरभित करता है, पादपपंक्ति को नवल फल-संभार से सजाता है, तो कोयल कूकने लगती है । क्षितिज पर उठती हुई मेघमाला को देखकर के किशोर मचलने लगते हैं, वीणा की मधुर ध्वनि सुनकर चंचल मृग और विषधर सर्प भी मोहित हो जाते हैं । यह सब उसी रति अर्थात् प्रेम का चमत्कार है, जो श्रृङ्गार रस का कारण है ।"[३] इसकी व्यापकता ने ही इसे अन्य रसों में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान दिलाया है और इसकी विशेषताओं के कारण ही इसे आचार्यों ने 'रसराज' की

१—रीति कालीन कवियों की प्रेम व्यंजना—डा० बच्चन सिंह—पृ० ११७
२—नायिका भेद और श्रृङ्गार विवेचन—प्रभुदयाल मीतल—पृ० १४
३—रीति कालीन कविता एवं श्रृगार रस का विवेचन—डा० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी—पृ० २३ ।

उपाधि से भी विभूषित किया है। 'श्रृङ्गार' 'रसराज' हो अथवा न हो किन्तु यह अन्य रसों में श्रेष्ठ है, इसमें दो मत नहीं हो सकते। रसों का मूल्याकन उनके स्थायी, विभाव, अनुभाव और संचारी भावों पर अवलंबित हैं। 'श्रृङ्गार' रस का स्थायी भाव रति अर्थात् प्रेम है जिसके समान सर्वव्यापी और प्रभावशाली स्थायी भाव का पाना शेष किसी भी 'रस' में असम्भव है। प्रेम चिरंतन, शाश्वत ओर सत्य है तथा इसकी शक्ति अपरिमेय है जिसकी व्याप्ति में नियति भी पडी रहती है। इस दृष्टि से 'श्रृङ्गार' रस की सर्वश्रेष्ठता एक प्रकार अक्षुण्ण हो जाती है।

विभावों, अनुभावों और संचारी भावों को दृष्टिपथ में रखने पर भी 'श्रृङ्गार' रस सर्वश्रेष्ठ ठहरता है। जितने सुन्दर आलम्बनों एवं उद्दीपनो की प्रचुरता 'श्रृङ्गार' रस में मिलती है अन्य किसी में नही और जितने अधिक अनुभाव श्रृङ्गार के होते हैं, उतने अन्य किसी रस में नही मिलते। हावों का तो उल्लेख केवल इसी रस में अनुभाव के अंतर्गत किया जा सकता है और सात्विक भाव का भी परिपाक अन्य रसों की अपेक्षा शृंगार रस में अधिक हो पाता है। जहाँ तक सचारी भावों का प्रश्न है शृंगार रस में कुल ३३ संचारी भावों में से २९ संचारो भावों का समावेश इस रस में सफलता के साथ किया जा सकता है। इतने संचारी भावों का समावेश अन्य किसी रस में नहीं हो पाता। आचार्यों ने अन्य रसों की भाँति शृंगार रस में भी शत्रु और मित्र रसों का उल्लेख किया है किंतु शृंगार रस में शत्रु रसों का भी मित्रवत कथन किया जाता है जैसा अन्य रसों में प्रायः नहीं होता। यदि हम चाहें तो शृंगार रस की विशाल परिधि में अन्य रसों को समेट सकते हैं क्योंकि अन्य रस श्रृङ्गार के अंगी रूप में लिखे जा सकते हैं। ऐसी स्थिति में अन्य रसों के बीच श्रृङ्गार रस की श्रेष्ठता निर्विवाद है।

शृंगार का प्रवेश—

भारतीय साहित्य में शृंगार का प्रवेश भक्ति के माध्यम से हुआ। भक्ति तथा श्रृङ्गार भावना का समन्वय भारतीय काव्य की एक प्रमुख विशेषता रही है, कालानुसार जिसके स्वरूप में परिवर्तन होता रहा है। सोलहवी शताब्दी के आस पास भागवत धर्म की उन्नति होने लगी थी। किन्तु इस समय तक भक्ति के नाम पर वैष्णव सम्प्रदाय की व्यापकता विद्यमान थी और इसके द्वारा प्रचारित भाव मनुष्यों के हृदयों को आन्दोलित कर रहे थे जो कवियों की अमृत वाणी का स्पर्श पाकर विकसित हो रहे थे। वैष्णव सम्प्रदाय ब्रजमण्डल में पहुँचकर और भी सशक्त हुआ किंतु यहाँ पहुँचकर उस पर एक विशेष प्रकार का रंग चढ़ने लगा। "ब्रजनायक श्रीकृष्ण के जीवन-चरित्र का प्रथमाङ्क यहीं खेला गया था और वही रहस्य यहाँ के निवासियों के हृदयों मे प्रतिध्वनित हो रहा था। अतएव उनकी रुचि और भक्ति उस भाव और कला की ओर विशेष रूप से झुक गयी। जो सज्जन इस रस के काव्य को, श्रृङ्गार रस से संयुक्त होने के कारण, भोग विलासिता का प्रतिबिम्ब समझते हैं वे भगवद् भक्तों की श्रृङ्गार मय उपासना तथा उनके भाव की पवित्रता की ओर सम्यक ध्यान नहीं देते।"[१] श्रृङ्गार रस से संयुक्त भक्ति का सर्वोत्तम उदाहरण व्यासकृत 'भागवत'

१—रामप्रसाद त्रिपाठी—सरस्वती पत्रिका जुलाई १९२०।

है। 'व्यास' कोई श्रृङ्गारिक कवि नहीं थे, वल्कि वे एक महान चिंतक और महर्षि थे जिन्हें सरस्वती का पूर्ण वरदान मिला था जिनके समान सम्यक दृष्टिवान और महाकवि कोई नहीं हुआ। 'व्यास जी' के सम्बन्ध में यह बात प्रसिद्ध है कि उनके काव्य में भागवत का स्थान सबसे ऊँचा है। श्रीमद्भागवत में 'रास पञ्चाध्यायो' दूध में मक्खन के तुल्य है। भक्त लोगो का हृदय उसे पढ़ अथवा सुनकर आज भी गद्गद हो जाता है। ऐसे महर्षि के भक्त मनोहारी और रोमाञ्चकारी काव्य को व्यभिचार और भोग विलासिता का प्रतिपादक और प्रचारक समझना केवल दृष्टि-दोष और ज्ञान-दोष है। इन्हीं महात्माओं के काव्य का स्तब्ध स्रोत, अनुकूल समय पाने पर ब्रजभूमि में पुनः प्रवाहित हो गया। इस काव्य को नवीन काव्य और इस भाव को नवीन भाव कहना भूल है। यह तो उसी वंशी का प्रतिनाद है जिसको व्यास जी शब्दों और वाक्यों में भर कर भारतीयों के शोक और सन्ताप के नाश के लिये छोड़ गये थे। ब्रजभूमि तो पूर्ण कला-प्रवीण मुरली-मनोहर की रङ्गस्थली ही थी, और चंडीदास भी इस भाव से उन्मत्त होकर तन्मय हो गये थे। उनके गीतों और पदो को श्री चैतन्य महा प्रभु नेत्रों मे आँसू भर भर कर गाते थे।"[1] कविवर विद्यापति के पूर्व तक इस प्रकार की रचनाओं का स्वरूप पूर्णतया धार्मिक था यद्यपि जयदेव की रचनाओं में काम-केलि से सबंधित प्रसगो का नितांत अभाव नहीं है और विद्यापति में आते-आते तो उस पर लौकिकता का रंग गाढ़ा होने लगा है।

'जयदेव' ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि उनकी रचना में भक्ति और श्रृङ्गार दोनों को महत्त्व मिला है—

"यदि हरि स्मरणे सरसं मनो यदि विलास–कलासु, कुतूहलम्।
मधुर-कोमल–कान्त–पदावलीं श्रृणु तदा जयदेव-सरस्वतीम्॥"

: गीत गोविन्द :

अर्थात् यदि हरि-स्मरण में मन सरस हो और यदि विलासकला में कुतूहल हो तो जयदेव की मधुर कोमलकात पदावली सुनो। महा कवि जयदेव के उपरोक्त कथन का आधार उनकी वैयक्तिक रुचि तथा तत्कालीन सामाजिक वातावरण नहीं है बल्कि उसके मूल में वह धार्मिक रूप है जो उनके पूर्ववर्ती साहित्य में पाया जाता है।

"भक्ति की चरमोपलब्धि के लिये साधक को कई सीढ़ियाँ पार करनी पड़ती हैं। भागवत के एक श्लोक में श्रद्धा तथा रति को भक्ति का क्रमिक सोपान बताया गया है[2]—

सतां प्रसंगान्मम वीर्यसंविदो भवंति हृत्कर्णरसायन्तः कथाः
तज्ज्योषणादाश्वपवर्गवर्त्मनिश्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रिमष्यति

(भागवत ३।२०।२२)

प्राचीन काल में परकीया प्रेम एक विशिष्ट सम्प्रदाय का प्रमुख धर्म था तथा बज्रयान सम्प्रदाय के प्रभाव से महासुख की प्राप्ति के लिये त्रिपुरसुन्दरी और परा शक्ति को निरन्तर

१—राम प्रसाद त्रिपाठी—सरस्वती पत्रिका—जुलाई १६२० ।

२—विद्यापति—डा० शिव प्रसाद सिंह—पृ० १०२

साथ रखने के महत्त्व पर जो बल दिया जाने लगा उससे शृङ्गार भावना को एक नवीन जीवन प्राप्त हो गया जिसका प्रभाव हिन्दी के दरबारी कवियों के लिये बड़ा अहितकर सिद्ध हुआ। विद्यापति तथा उनके बाद सूरदास जैसे भक्त कवियों को भी प्रेरणा इन्हीं धार्मिक सम्प्रदायों से ही मिली जो धीरे-धीरे अलौकिकता से लौकिकता की ओर बढ़ती गयी।

इस प्रकार पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी के आस पास जिस हिन्दी काव्य की रचना प्रारम्भ हुई इसमें दो स्पष्ट वर्ग दिखलाई पड़ने लगे, जिनमें एक पर धार्मिक और दूसरे पर मानुषिक रंग गाढ़ा था। धार्मिक काव्य मुख्यतः वह हैं जिसका प्रदुर्भाव मुख्यतः भक्तों द्वारा हुआ है, जिस श्रेणी में तुलसी, सूर, नन्ददास, कबीर आदि की गणना की जा सकती है और मानुषिक काव्य के अन्तर्गत दरबारी कवियों तथा भक्तेतर मनुष्यों के नाम आते हैं; जिनमें गङ्ग, मतिराम, बिहारी और देव आदि कवियो की गणना की जा सकती है। इन सभी कवियो का मूल स्रोत वैष्णव भगवद्भक्ति ही है यद्यपि दरबारी कवियों के द्वारा काव्य की आत्मा में आमूल परिवर्तन हो गया। दरबारी कवियों ने अपने पूर्व वर्ती साहित्य से केवल विषय का आधार ही लिया है, क्योंकि उसके स्वरूप, प्रभाव एवं कला पर दरबारी सस्कृति का पूर्णतः प्रभाव था। इसके अतिरिक्त लौकिक जीवन को लक्ष्य कर पूर्ववर्ती साहित्य में एक विचारधारा और लोकप्रिय हो रही थी जिसमें अपेक्षाकृत विशेष ताजगी थी—जिस ओर दरबारी कवि अधिक झुके।

भारतवर्ष में हूणों के साथ आभीरगण भी आये थे। हूणों की भाँति आभीरगण लूट-मार कर लौट नहीं गये बल्कि वे इसी के निवासी हो गये। आगे चल कर इन्हीं आभीरों ने बड़े-बड़े राज्यों की स्थापना भी कर ली। इन आभीरों और भागवत धर्म का संयोग भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के लिये अत्यन्त अद्भुत सिद्ध हुआ जिससे एक अभिनव वैष्णव मतवाद का प्रचार हुआ। इसने अपभ्रंश काल मे हिन्दी भाषा और साहित्य को बहुत अधिक प्रभावित किया है। "बहुत से पंडितों का विश्वास है कि प्राकृत और उससे होकर संस्कृत में जो यह ऐहिकतापरक सरस रचनाये आईं उसका कारण आभीरों का संसर्ग था। ये फुटकर कवितायें, अहीरों की प्रेम कथाओं और उनके गृह-चरित्र लोक साहित्य में अत्यधिक लोकप्रिय हो गई थीं और उनकी शक्ति और सरसता पंडितों से छिपी न रही। उसने प्रत्यक्ष रूप से प्राकृत और संस्कृत के साहित्य को प्रभावित किया। उसी प्रभाव के फलस्वरूप संस्कृत और प्राकृत में, अपने आपमें स्वतन्त्र ऐहिकतापरक फुटकर पद्यों का प्रचार हुआ। पर अपभ्रंश में, जो निश्चयपूर्वक पहले आभीरों की और बाद में उनके द्वारा प्रभावित आर्यभाषा थी, उसकी धारा बराबर जारी रही और उन दिनों अपने पूरे वेग में प्रकट हुई जिन दिनों सस्कृत और प्राकृत के साहित्य पहले ही बताये हुए नाना कारणों से लोक-रुचि के लिये स्थान खाली करने लगे। हमारा मतलब हिन्दी के आविर्भावकाल से है।"[१] परवर्तीकाल की अपभ्रंश रचनाओं से अनुमान लगाया जा सकता है कि आरम्भ में ऐहिकतापरक फुटकर पद्य और लोक-प्रचलित कहानियों के गीतरूप दो रूपों में रचनाये पाई जाती हैं।

लोक प्रचलित कहानियों को आधार मानकर लिखे गये गीतों के संग्रह बहुत कम उपलब्ध होते हैं और जो मिलते भी हैं उनमें भी वास्तविक रूप में बहुत कुछ परिवर्तन हो

१—हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ११३-१४।

गया है। भारतीय लोक-कथाओं की एक प्रमुख विशेषता होती थी कि वे किसी ऐतिहासिक व्यक्ति को आश्रय करके लिखी तो जाती थी किन्तु उनमें ऐतिहासिक घटनापरम्परा का नितांत अभाव होता था।

सन् ईसवी के बाद जिस ऐहिकता मूलक सरस काव्य का आविर्भाव हुआ था जिसे अंग्रेजी में 'सेक्यूलर' कविता कहते हैं, वह फुटकल श्लोकों के रूप में छोटे छोटे पद्यों में ही लिखी जाती थी। इसका संकेत पूर्व में ही किया जा चुका है कि सर्वप्रथम ये रचनाये प्राकृत भाषा में लिखी गई और बाद में चलकर संस्कृत में भी लिखी जाने लगी। "हमारे इस कथन का यह अर्थ नहीं समझना चाहिये कि इसके पूर्व समूचे भारतीय साहित्य में ऐसी कोई रचना रही ही नहीं होगी जिसे ऐहिकता परक कहा जा सके; वस्तुतः पण्डितों ने ऋग्वेद, अथर्वबेद तथा बौद्धों की थेरी-गाथा और थेरी गाथाओं से इस प्रकार के प्रमाण ढूँढ निकाले हैं जिनसे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि ऐसी रचनायें प्राचीन काल में भी किसी न किसी रूप में रही जरूर होंगी, मानव प्रकृति उन दिनों भी सदा आमुष्मिकता में उलझी रहना पसद नहीं करती होगी। महाभारत में आई हुई कई प्राचीन कहानियों के सम्बन्ध में भी पण्डित लोग इसी प्रकार का विचार पोषण करते हैं। यहाँ हमारे कथन का तात्पर्य यह है कि सन् ईसवी के आरम्भ काल के आसपास से ऐसी रचनायें बहुत अधिक दिखने लगीं। इनका आरम्भ प्राकृत से हुआ। इस प्रकार की कविता का सबसे पुराना संग्रह 'हाल' की 'सत्तसई' या 'सतसई' है।"[1] 'हाल' द्वारा सग्रहीत सतसई में जिस प्रकार की कविताओ के दर्शन हुये वैसी कविताये संस्कृत के किसी भी ग्रन्थ में नहीं देखी गई थी।

'हाल' की 'गाथा-सतसई' का प्रभाव बाद के संस्कृत कवियों पर भी पड़ा और इन्हे आधार मान कर हिन्दी में भी ऐहिकता परक काव्य लिखे गये जिसकी चर्चा हो चुकी है। जिन लोक कथाओ की चर्चा ऊपर हुई उन्ही से प्रेरणा ग्रहण कर इस प्रकार के जीवन्त सरस काव्य की सृष्टि हुई है। "हाल को सत्तसई में जीवन की छोटी-मोटी घटनाओं के साथ एक ऐसा निकट सम्बन्ध पाया जाता है जो इसके पूर्ववर्ती संस्कृत साहित्य में बहुत कम मिलता है। प्रेम और करुणा के भाव, प्रेमिकाओं की रसमयी क्रीड़ायें और उनका घात-प्रतिघात इस ग्रन्थ में अतिशय जीवित रस में प्रस्फुटित हुआ है। अहीर और अहीरिनों की प्रेम-गाथायें, ग्राम-वधूटियों की शृंगार-चेष्टायें, चक्की पीसती हुई या पौदों को सींचती हुई सुन्दरियों के मर्म स्पर्शी चित्र, विभिन्न ऋतुओं का भावोत्तेजन आदि बाते इतनी जीवित, इतनी सरस और इतनी हृदयस्पर्शी हैं कि पाठक बरबस इस सरस काव्य की ओर आकृष्ट होता है।"[2] जिस लोकसाहित्य की परम्परा ने 'हाल' की गाथा सत्तसई को प्रभावित किया है, वह कौन सी थी इसके सम्बन्ध में विद्वान एक मत नहीं हो सके हैं किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि इसी का विकास 'अपभ्रंश' की रचनाओं में हुआ है।

ऐहिकतापरक शृङ्गारिक रचनाओं की सृष्टि संस्कृत में छठवीं-सातवीं शताब्दी में ही होने लगी थी किन्तु बारहवीं शताब्दी में 'आर्या-सप्तशती' के प्रकाश में आने पर उसका

१—हिन्दी साहित्य की भूमिका डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० ११२।

२—हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—पृ० ११३

विस्तार रोमांस की स्वस्थ माँसल भूमि पर भी आ गया । इस प्रकार प्राकृत और संस्कृत की इन ऐहिकता परक रचनाओं से प्रभावित होना परिवर्ती कवियों के लिये आवश्यक हो गया था । हाल की गाथा- सतसई में ही श्रृंगार के दोनों पक्षों का जो चित्रण प्रस्तुत किया गया है, वह इतना मार्मिक है कि परवर्ती काल के कवियों में 'विद्यापति' 'सूरदास' आदि ने उन अनूठी उक्तियों को बिल्कुल अपना बना लिया । इस तरह के दो एक उदाहरणों को देखने से इस काव्य की चेतना और परवर्ती काव्य को प्रभावित करने को शक्ति का पता चलता है ।

परदेशी प्रिय लौट कर आता नहीं । नायिका उसके प्रेम की अतिशयता के कारण 'प्रिय आज ही गया है' ऐसा कह कर जो रेखा खींच देती है उनसे दीवार भर गयी है किन्तु वह आया नहीं—

'अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति गण्डीए
पढ़म ब्बिअ दिअहद्धे कुड्डो रेहाहिच्चित्तलियो (३।८)'

विद्यापति की नायिका तो दिवस की रेखा खींचते खींचते अपने नाखूनों को ही खो चुकी है किन्तु श्याम मथुरा से लौटने का नाम ही नहीं लेते[1]—

'कतदिन माधव रहब मथुरापुर कवे घुचव विहि बाम ।
दिवस लिखि लिखि नखर खोया ओल बिछुरल गोकुल नाम ।।'

इसी प्रकार दूसरा पद भी देखिये—

"कालिक अवधि करिअ पिय गेल ।
लिखइते कालिभीति भरि गेल ।।
भले प्रभात कहत सबहीं ।
कह कह सजनि कालि कहीं ।।"

: विद्यापति :

अपभ्रंश के दोहों पर भी उपरोक्त गाथा का स्पष्ट प्रभाव है—

"जामइ दिण्णा दिअहडा दइए पवसत्तेण ।
ताण गणन्तिएँ अंगुलिउ जज्जरिआउ नेहण ।।"

: सिद्ध हेमचंद से :

गाथा सप्तशतीकार की नायिका परदेशी पति के आगमन पर अपनी उन सभी तैयारियों का वर्णन करती है जिसे उसने पति के अभिवादन के निमित्त कर रखा है—

रत्यापइण्णणा अणुप्पला तुमं सा पड़िच्छये एन्तम ।
दारणि हियेहिं दोहि विमंगल कलसेहिव थणेहिं ।।२।४०।।

: गाथा सप्तशती :

अर्थात् उसने नयनोत्पल से पथ प्रकीर्ण किया है और कुचों का कलश बनाकर हृदय के द्वार पर स्थापित कर दिया है ।" परवर्ती कवि विद्यापति और 'सूरदास' की रचनाओं पर इसका स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है—

१—विद्यापति—डा० शिव प्रसाद सिंह—पृ० १०५

"पिया जब आओब मझु गेहे।
मंगल जतनु करब निज देहे।।
कनक कुंभ करि कुच युग राखी।
दरपन धरब काजर देइ आँखि।।"

: विद्यापति :

"करत मोहि कछवै न बनी।
हरि आये चितवत ही रही सखि जैसे चित्रधनी।
अति आनन्द हरष आसन उस कमल कुटी अपनी।
हृदय उमंगि कुच कलस प्रकट भये टूटी तरकि तनी।।"

: सूर सागर १८८० :

इससे स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति भावना से प्रेरित कविताओं के साथ साथ लौकिक श्रृंगार से ओत-प्रोत रचनाओं का भी एक मन्द प्रवाह चल रहा था जो अनुकूल वातावरण में आकर हिन्दी काव्य का प्रधान अंग बन गया। इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है कि मध्यकालीन हिन्दी कवियों पर सबसे अधिक प्रभाव वस्तु विषय की दृष्टि से 'श्रीमद्भागवत' का पड़ा है। इसके दशम स्कन्ध में लौकिकता और अलौकिकता दोनों ही विद्यमान हैं और यही बात हम आरम्भ के भाषा-कवियों की रचनाओं में भी पाते हैं। जितने भी भक्त कवियों की रचनाये हैं यदि उनकी विवेचना की जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि उनमें न तो श्रृंगार काव्य की इतनी अकथनीय अधिकता ही है और न श्रृङ्गार रस ही इतना बुरा है कि उससे अश्लीलता उत्पन्न होने का भय हो।

प्रेम और श्रृङ्गार काव्य के प्रमुख तत्त्व हैं जिनका स्वस्थ एवं व्यापक रूप काव्य के लिये अत्यन्त आवश्यक है। काव्य से यदि प्रेम और श्रृङ्गार निकाल दिया जाय तो काव्य की सरसता कभी भी उतनी नहीं रह सकती जितनी आवश्यक है। काव्य से श्रृङ्गार और प्रेमका निकाल देना किसी भी साहित्य को निर्जीव बनाने के समान है। मानव हृदय में जितने भी भाव है उनमें 'प्रेम' सर्व प्रधान है। प्रेम अपने वास्तविक रूप में अनन्त, जीवन्त एवं पवित्र होता है। इसमें विकार उसी समय उत्पन्न होता है जब इससे स्वार्थ एवं कुत्सित विचारो का मेल होता है और ऐसी स्थिति में कुपात्रों के हाथ में पड़कर यह भयानक और राक्षसी भाव ग्रहण कर लेता है। इस अवस्था को प्राप्त हो जाने पर 'प्रेम' का रूप 'प्रेम' का सा नही रह जाता बल्कि उसे 'विषयवासना' कहना ही उचित होगा। प्रेम और विषय वासना के भेद को हिन्दी के आरम्भिक भक्त कवि भली भाँति समझते थे। यद्यपि उनकी कविताओ के द्वारा 'परकीया' तथा अन्य नायिकाओं अथवा उनके प्रति भावों का निर्माण हुआ है, किन्तु वह विषय के वैज्ञानिक अथवा यो कहिये कि अन्य अङ्गों की पूर्ति के लिये ही, अश्लील वर्णन के लिये नही। कामसूत्रकार ने स्पष्ट शब्दो में रचना का मन्तव्य प्रकट कर दिया है—

धर्ममर्थञ्च कामञ्च प्रत्ययं लोकमेव च।
पश्यत्ये तस्य तत्त्वज्ञो न च रागात्प्रवर्तते।।

तदेतद् ब्रह्मचर्य्येण परेण च समाधिना ।
विहितं लोकयात्रार्थे न रागार्थोऽस्य संविधिः ॥
असङ्गृहीतभार्यो च ब्रह्मस्त्री यश्च गच्छति ।
पातकं सततं तस्य ब्रह्महत्या दिने दिने ॥

अर्थात् धर्म, अर्थ और काम को यथार्थ लौकिक तत्त्व को जानने वाला देखता है, रागवश उसमें प्रवृत्त नहीं होता। यह धर्म, अर्थ और काम का सम्विधान ब्रह्मचर्य एवं सर्वोत्तम समाधि के द्वारा लोक-यात्रा को सम्पन्न करने के लिये किया गया है, रागमूलक इसका सम्विधान नहीं है। जो व्यक्ति बिना शास्त्रीयविधि से ग्रहण किये हुए आर्या के साथ तथा ब्राह्मण स्त्री के साथ गमन करता है, वह सर्वदा सूतक को तथा प्रतिदिन ब्रह्महत्या के पाप को ग्रहण करता है।

यह तो केवल एक साधारण और सांसारिक दृष्टि है, किन्तु यदि हम इसे कृष्ण-भक्त की दृष्टि से देखें तो परकीया आदि नायिकायें गोपों की प्रेम मदमाती लाडली गोपिकायें हैं, जिनके साथ भगवान् कृष्ण ने क्रीड़ा की। अतः यह मोहक विषय भक्त कवियों द्वारा कीर्तन शैली के अन्तर्गत अपनाया गया। इस श्रृङ्गार लीला को भक्त लोग पुरुष की भूमिका से नहीं बल्कि नारी की भूमिका से देखते थे क्योंकि उनके अनुसार श्रीकृष्ण ही एकमात्र पुरुष हैं और तो जगत नारीमय है, जिससे वासनामय आकर्षण के उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठ पाता। आगे चलकर इसका परिणाम भले ही अच्छा न हो किन्तु उस समय इसका स्वरूप पूर्णतः धार्मिक था।

श्रीकृष्ण और गोपियों की क्रीड़ायें श्रृङ्गार वर्णन को प्रश्रय देने वाली प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं, जिनमें कालानुसार परिवर्तन होता रहा। भारतीय काव्यों में 'राधा' का प्रवेश श्रृङ्गारी साहित्य के लिये एक विशेष महत्त्व पूर्ण घटना है। व्यासकृत 'भागवत' की असंख्य गोपियाँ काव्य में 'राधातत्त्व' के प्रवेश पा जाने पर राधामय हो गयीं। उनका विशाल-व्यापक रूप सिमट कर एक सौन्दर्यमयी विरहणी नारी के शरीर में समा गया जिससे कवियों को भी अंग प्रत्यंग से श्रृंगार की छटा छिटकाने में सुविधा हुई। राधातत्त्व के प्रवेश पाने के पूर्व कृष्ण और गोपियाँ श्रृंगारिक भावनाओं को उतना नहीं उकसा पाती थीं क्योंकि उनमे अलौकिकता के दर्शन अधिक होते थे। एक ही स्थान और एक ही समय कृष्ण का असंख्य गोपियों को सन्तुष्ट करना कभी भी लौकिक नहीं कहा जा सकता जिससे इस असाधारण कार्य अथवा घटना के प्रति आश्चर्य एवं श्रद्धा के भाव जितने जग सकते थे उतने वासना एवं अश्लीलता के नहीं। राधा और कृष्ण के प्रेम-व्यापार अपेक्षा कृत मानवीय थे जिससे नारी के नख-शिख चित्रण के लिये कवियों को पूर्ण अवकाश मिला। इसमें वैयक्तिक अनुभूतियो के लिए पर्याप्त अवकाश था जिससे कविकल्पना ने इस प्रसंग को लेकर अपना पूर्ण चमत्कार दिखलाया है।

हिन्दी काव्य में राधातत्त्व का प्रवेश—

हिन्दी मध्य कालीन मुक्तक काव्यों में श्रृङ्गार परक जितनी भी रचनायें हुई अधिकतर वे कृष्ण और राधा को लक्ष्य करके लिखी गई हैं। राधा और कृष्ण एक प्रकार से हिन्दी

श्रृंगारिक रचनाओं के प्रधान नायिका और नायक हो गये। संस्कृत साहित्य की श्रृंगार परक रचनाओं में कृष्ण के साथ गोपियों की लीलाओं का वर्णन तो आया है किन्तु राधा का नाम सम्भवतः कहीं नहीं लिया गया। व्यासकृत 'भागवत' श्रीकृष्ण की लीलाओं का अक्षय कोष है किन्तु इसके भी किसी प्रसंग में राधा का कहीं भी नाम नहीं आया है जब कि हिन्दी के श्रृङ्गारिक मुक्तकों अथवा साहित्य के लिये राधा तत्व एक महान प्रेरक शक्ति है। राधा हिन्दी श्रृङ्गारिक काव्य की अधिष्ठात्री देवी है "और साथ ही वह नारी की एक ऐसी मासल मूर्ति है जिसके शरीर के हर अणु में कच्ची मिट्टी की गंध है और आत्मा के प्रत्येक चेतन-परमाणु में दिव्य-प्रेम की अलौकिक छटा। छठवीं शताब्दीसे दसवीं तक का सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय इस अनुपम नारी-रत्न की छाया व्यतिकार-सौन्दर्य-सृष्टि से अनुप्राणित हुआ है।"[1] इस काल की हिन्दी कविताओं में काव्य की समूची रूढ़ियाँ और कवि-प्रसिद्धियाँ वही नहीं थी जो प्राचीन काव्यों में मिलती हैं। हिन्दी कविता के निर्माण में संस्कृत काव्य के विषय-वस्तु के साथ ही साथ कुछ और उपादान भी काम कर रहे थे। सस्कृत काव्य की रूढ़ियों और कवि-प्रसिद्धियाँ तो कुछ मात्रा में हिन्दी कवियों द्वारा अपना ली गईं किन्तु उनकी रचनाओं में कुछ नई रूढ़ियों और कवि-परम्पराओं का भी समावेश हुआ। "स्त्री-रूप के उपमानों में से बहुत-से भुला दिये गये थे और पुरुष-रूप के वर्णन को अत्यन्त कम महत्त्व दिया गया। एक नई बात जो इस युग की कविता में दिखाई पड़ी वह यह कि प्रायः सभी श्रृंगारात्मक उत्तम पद्यों का विषय श्रीकृष्ण और गोपियों का प्रेम है; उन्ही की केलि-कथायें, उन्ही की अभिसार लीलाये और उन्हीं की बंशी-प्रीति आदि।"[2] हिन्दी मुक्तककारों की श्रृङ्गारिक रचनाओं में गोपी और गोपाल की प्रेम लीलायें भरी पड़ी हैं किन्तु गोपियों के स्थान पर अधिकतर 'राधा' का ही प्रयोग किया गया है और उनमें श्रृङ्गार की इतनी अधिकता हो गई है कि कभी-कभी आधुनिक युग का आलोचक बुरी तरह से इन कवियों पर बिगड़ खड़ा हो जाता है। कभी कभी इन्हें गंदगी की नाली बहाने वाले, भगवान् के नाम पर कलंक का प्रचार करने वाले आदि भी कहा गया है, फिर भी इस विषय में दो मत नहीं कि ऐसा लिखने वाले कवि काफी ईमानदार थे। वे सचमुच विचार करते थे कि—[3]

> "राधा मोहन लाल कौ, जिन्हें न भावत नेह।
> परियो मुठी हजार दस, तिनकी आँखिन खेह ॥"
>
> —मतिराम

ये कविगण नेह के नाम पर राधाकृष्ण का नाम तो लेते थे और उनके प्रति भक्ति के भाव भी उनके हृदय में वर्तमान थे किन्तु अपनी रचनाओं में वे उनके ईश्वरीय स्वरूप की रक्षा नहीं कर सके। राधा कृष्ण की ओट में वे तत्कालीन दरबारी समाज की श्रृङ्गारिक वृत्तियों की ही अभिव्यक्ति करने में लगे थे इसमें सन्देह नहीं। इन लोगों का प्रधान उद्देश्य कला का प्रदर्शन करना था न कि भक्तिपरक रचनायें करना। राधा और कृष्ण का नाम लेना तो उनका एक बहाना मात्र था—

१—विद्यापति—डा० शिवप्रसाद सिंह, पृ० ११८।
२—हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १२१।
३— " " " पृ० १२१।

रीझि हैं सुकवि जो तो जानौ कविताई,
नतो राधिका-गुविंद सुमिरन को बहानो है ॥

पहले भी भारतीयों में देवी-देवताओ को लक्ष्य करके शृङ्गारिक रचनाये संस्कृत साहित्य में होती रहीं किन्तु उनमें भक्तों की तन्मयता ही अधिक दिखलाई पड़ती है, मॉसलता नहीं। "भारतीय स्तोत्रों के कवि भक्त-गद्‌गद भाव से भी जब कविता करते थे तो शिव, दुर्गा, विष्णु आदि देवी देवताओं की शृङ्गार-लीला के वर्णन करने में कभी भी कुठित नही होते थे। यह समझना गलत है कि केवल राधा-कृष्ण ही उपास्य और शृङ्गार लीला क आश्रय एक ही साथ माने गये। चण्डी, लक्ष्मी, सरस्वती, गंगा, शिव, विष्णु आदि सभी देवताओं के स्तोत्रों मे उनकी शृङ्गार-'चेष्टाओं का भूरिशः उल्लेख है। यह जरूर है कि श्रीकृष्ण और गोपियो को सारी कथाये ही शृङ्गार चेष्टा की कथाये हैं और इसीलिये इनकी वस्तुओ में इसकी प्रधानता हो गई।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि देवी-देवताओं की शृङ्गार चेष्टाओं का वर्णन करना अनुचित नहीं माना जाता था और यही कारण है कि राधा नामक स्त्री को चाहे वह कल्पित ही क्यो न हो 'देवी' का रूप मिल जाने पर शृङ्गार की प्रधान नायिका मान लिया गया क्योकि उसके अन्तर्गत कुछ ऐसे गुणो की कल्पना की गयी थी जो शृङ्गार वर्णन के लिये अत्यन्त उपयुक्त थे।

प्रा०- प्रश्न यह उठता है कि 'राधा' की कल्पना और उसका प्रचार भारतीय साहित्य में कब से हुआ। ऊपर ही स्पष्ट कर दिया गया है कि महा कवि व्यास ने 'भागवत' में राधा नामक किसी भी स्त्री अथवा गोपी का नाम नहीं लिया है। लोककथाओं और शृंगारिक प्रवृत्तियों की चर्चा करते समय ऊपर बाहर से आने वाली एक आभीर जाति की चर्चा की जा चुकी है। कुछ विद्वानों का कथन है कि राधा इसी आभीर जाति की, प्रेम की देवी थीं जो उनके भारत में बस जाने के कारण वैष्णव धर्म में आ गई और कृष्ण की आदर्श शक्ति के रूप में पूजित होने लगी। वैदिक आर्य तो स्वभाव से भावुक थे और जीवन के प्रति उनमें विश्वास भी बहुत था किन्तु उपनिषदों, जैनों और बौद्धों की शिक्षा के कारण भारतीय जीवन में एक प्रकार की वैराग्य-भावना का उदय हुआ जिसके विरुद्ध जहाँ तहाँ हलकी प्रतिक्रिया आभीरादि जीवन भोगिनी जातियों के आगमन के बाद उत्पन्न हुई क्योकि यह जाति स्वभाव से ही आनन्दी और वीर थी। इस प्रकार "भागवत धर्म और आभीरो के धर्म के समिश्रण से जो वैष्णव मतवाद बना वह जबतक भागवत से मिला नही था तब तक भीतर ही भीतर लोक भाषा को प्रभावित कर रहा था और इसके पहले भी हाल की सतसई मे अहीर और अहीरिनों की प्रेम लीला का वर्णन मिलता है, लोक भाषा में इनका और भी प्रचार रहा होगा, कि भागवत का आश्रय पा लेने के बाद यह शास्त्र प्रभावित काव्यो में भी आने लगा। राधा और कृष्ण के परम देववत् सिद्ध हो जाने के पश्चात् किसी प्रकार की बाधा भी नहीं खड़ी हो सकती थी।"[2] प्राकृत और अपभ्रंश में तो बहुत काल से ही गोपियो के साथ कृष्ण की प्रेम चर्चा का प्रसंग आने लगा था किन्तु संस्कृत में राधा प्रसग की सर्व प्रथम चर्चा का उल्लेख 'आनन्द वर्धन' के ध्वन्यालोक के एक उदाहरण में प्राप्त होता है—

१—हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—पृ० १२०
२—हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—पृ० १२०

"तेषां गोपवधूविलाससुहृदो राधारहः साक्षिणाम् ।
क्षेमं भद्र कलिन्दराजतनयातीरे लतावेश्मनाम् ।।"

आगे चलकर बाद में ग्यारहवीं शताब्दी में लीलाशुक के 'कृष्णकर्णामृत' की रचना हुई और इसके बाद ही जयदेव के गीत गोविन्द की भी अमर पंक्तियाँ लिखी गयीं । जयदेव कृत गीत गोविन्द की रचना के पश्चात् विद्यापति, चण्डीदास और सूरदास की रचनाओं में जो लोक भाषा में लिखित हैं राधा कृष्ण और अन्य गोपियों की प्रेम लीला सम्पूर्ण विकसित रूप में पायी जाती है ।

जिस राधा शब्द ने भारतीय साहित्य की एक दीर्घ परम्परा को इतना अधिक प्रभावित किया उसका मूल रहस्य क्या है, इस सम्बन्ध में निरंतर विद्वान् विचार करते रहे हैं । "राधा किसी नारी का नाम नहीं है, यह नारी जीवन की सम्पूर्ण गरिमा, तेजोद्दीपता, समर्पण, प्रेम की अनन्यता तथा सम्पूर्ण सौन्दर्य, शील और प्रज्ञा के घन विग्रह का अभिधान है । राधा भारतीय प्रेम साधना की परिणति का नाम है । इस साधना का आरम्भ वैदिक साहित्य में ही दिखाई पड़ने लगता है जब ऋषि ने प्रकृति को आद्या शक्ति के रूप में अपनी प्रथम श्रद्धांजलि अर्पित की । अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त में शक्ति के पृथ्वी रूप की जो वन्दना है वह विश्व जननी पृथ्वी के प्रति मनुष्य की प्रगति का प्रथम उच्छ्वास नहीं तो क्या है ?"[1] डा० शशिभूषण दास गुप्त ने स्वीकार किया है कि 'वेद में वर्णित पृथ्वी की इस देव मूर्ति के साथ परवर्ती काल की विष्णु की भू शक्ति की योजना स्मरण की जाती है । श्रुतियों में हमें शक्ति के लक्षणीय उल्लेख मिलते हैं । केनोपनिषद् में जहाँ ब्रह्म शक्ति ही असल शक्ति है वह शक्ति जो अग्नि, वायु, इन्द्र आदि सभी देवताओं के अन्दर क्रियमाण है—देवताओं को ही तत्त्व दिखाने के लिए साक्षात् ब्रह्म विद्या बहुशोभ माना है भगवती उमा के रूप में आकश में आविर्भूता हुई ।"[2]

अत्यन्त प्राचीन काल से ही माँसल सौन्दर्य और अलस भरे नेत्रों के वर्णन के साथ देवी को 'शंख पात्रा' और 'शुककल पठितं शृण्वती' भी कहा गया है । इस प्रकार के वर्णन नायिका वर्णन प्रसंग में प्रायः रूढ़ से हो गये थे—

"ॐ ध्यायेयं रत्नपीठे शुककलपठितं शृण्वतीं श्यामलांगी,
न्यस्तैकाङ्घ्रं सरोजे शशिशकलधरा वल्लकीं वादयन्तीम् ।
कह्लाराबद्धमालां नियमितविलसच्चोलिका रक्तवस्त्रा,
मातंगीं शंखपात्रां मधुरमधुमदां चित्रकोद्भासिमालाम् ।"

डा० शशि भूषणदास गुप्त ने जो निष्कर्ष निकाला है उसमें तथ्य का अंश अधिक दिखाई पड़ता है । उन्होंने स्पष्ट संकेत किया है कि 'तंत्र पुराणादि या शैवदर्शन में जहाँ शक्ति तत्त्व का विवेचन भली भाँति प्रारम्भ हुआ है, वहाँ देखते हैं कि शक्तिवाद ने वैष्णव धर्म और दर्शन में भी घुसना शुरू किया है और हमारा विश्वास है कि वैष्णव धर्म और दर्शन में यह शक्तिवाद ही परवर्ती काल में पूर्ण विकसित राधावाद में परिणत हुआ ।"[3]

१—विद्यापति—डा० शिवप्रसाद सिंह—पृ० ११८

२—राधा का क्रमविकास—डा० शशिभूषणदास गुप्त—पृ० १३

इसका उल्लेख ऊपर ही किया जा चुका है कि व्यास कृत भागवत में जो कृष्ण और गोपियों की लीलाओं का संचित कोष है, राधा नाम की किसी स्त्री अथवा गोपी का नाम नहीं आया है। किन्तु कुछ विद्वानों ने खींच तान कर 'राधा' का सम्बन्ध 'भागवत' से जोड़ने का प्रयत्न किया है। इस क्लिष्ट कल्पना का आधार ब्रज मंडल में घटी एक घटना है जिसके द्वारा कृष्ण ने अपनी सबस अधिक प्रिय गोपी के एकान्त प्रेम का आनन्द उठाया था। भागवत में रासक्रीड़ा के प्रसग में एक स्थान पर यह वर्णन अवश्य आता है कि कृष्ण अपनी प्रियतमा गोपी को लेकर गायब हो गये, तदनन्तर उनके वियोग में व्याकुलिता गोपियों ने उस सौभाग्यवती गोपी को लक्ष्य करके किंचित ईर्ष्या वश कहा थाः—

अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो याभनयद्रहः॥
१०–२०–२४

अर्थात् इसी ने भगवान हरि की सही आराधना की है। क्योंकि हमें छोड़कर गोविन्द इसी के प्रेम में पगे हुए हैं। 'अनयाराधितः' शब्द को लेकर विद्वानों ने 'राधा' नाम के संधान का प्रयास किया और बताया कि 'आराधना' से ही राधा-नाम का आविर्भाव हुआ। परवर्ती पुराणों में राधा का नाम अवश्य आता है। पद्म पुराण, मत्स्य पुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण आदि में राधा के विषय में उल्लेख प्राप्त होते हैं। गौड़ीय वैष्णव आचार्य 'रूप गोस्वामी' ने अपने ग्रन्थ 'उज्ज्वल नीलमणि' में राधा प्रकरण के अन्तर्गत यह बतलाया है कि गोपालोत्तर—तापनी में राधा गांधर्वी नाम से प्रसिद्ध है तथा ऋकपरिशिष्ट में राधा माधव के साथ उदित है।[1]

"गोपालोत्तरतापन्या यद् गान्धर्वीति विश्रुता
राधेत्यृक्परिशिष्टे च माधवेन सहोदिता"

राधा तत्त्व के सम्बन्ध में अन्य प्राचीन उल्लेखों का सन्धान करते हुए डा० शशिभूषण दास गुप्त ने अपनी पुस्तक 'श्री राधा का क्रमविकास' में 'नाप्पिननाई' नामक एक पुष्प के साथ भी 'राधा' नाम की चर्चा की है।[2] 'राधा' तत्त्व का जो महत्त्वपूर्ण प्रभाव हिन्दी मध्यकाल के दरबारी कवियों अथवा श्रृङ्गारिक मुक्तकों पर रहा उसका मुख्य सूत्र तो स्पष्ट रूप में 'हाल' द्वारा संग्रहीत 'गाथा सप्तशती' में ही प्राप्त होता है। जिस प्रकार 'गाथा सप्तशती' के माध्यम से ऐहिकतापरक रचनाओं का आरम्भ हुआ उसी प्रकार 'राधा' का मानवी रूप भी लोगों के सम्मुख आया। 'गाथा सप्तशती' की एक 'गाथा' में राधा शब्द का स्पष्ट प्रयोग हुआ है। 'कोई गोपबाल कहता है कि हे कृष्ण तुम अपने मुख मारुत से राधा

१—विद्यापति–शिवप्रसाद सिंह—पृ० १२१

२—"नाप्पिन्नाइ एक फूल का नाम है। नाप्पिन्नाइ को कृष्ण की प्रियतमा और लक्ष्मी का अवतार बताया गया है। 'नाप्पिन्नाइ' राधा की तरह ही गजगामिनी है, गौरी है, सौन्दर्य की प्रतिमा है। 'नाप्पिन्नाइ' ही गोपियों में प्रधान और कृष्ण की प्रियतमा है। इस पौराणिक कल्पना को इन्होंने (आलवारों ने) स्थानीय उपाख्यानों में मिलाकर थोड़ा बहुत बदल दिया।"

के मुँह पर लगे हुए गोरज का अपनयन करके इन वल्लभियों के तथा अन्यो के गौरव का अपहरण कर रहे हो'—

मुहमारुहेण तं कण्ह गोरअं रहि जाएं अवणेन्तो।
एताणं वलवीणं अण्णाणं वि गोरअं हरसि॥"

"'राधा' का प्रवेश भारतीय साहित्य में एक प्रकार से सामाजिक और सास्कृतिक घटना है जो विभिन्न जातियों के सम्मिलन से घटी थी। यही कारण है कि समयानुसार बदलते हुए सामाजिक मूल्यों के साथ साथ 'राधा' के स्वरूप में भी परिवर्तन होता रहा। 'जयदेव' के 'गीत गोविन्द' की राधा जो पूर्णतः सांसारिक मानवी है, महाकवि 'विद्यापति' को उत्तराधिकार के रूप में मिली थीं, अन्तर इतना ही है कि 'जयदेव' की भाति 'विद्यापति' को 'राधा' का सरलबालिका[1] रूप उतना पसन्द नहीं आया जितना कि उनका 'श्यामा' स्वरूप। 'राधा' का 'मुग्धास्वरूप' 'कृष्ण' के आकर्षण का प्रधान कारण बना था न कि उसका भोलापन। 'राधा' आकस्मिक यौवनागम के कारण कुतूहल चकित होकर अपने अंगों का उभार देखती है कि उसे देखकर 'कृष्ण' की आँखे गड़ी!

"शैशव यौवन दुहु मिलि गेल।
स्रवन क पथ दुह लोचन लेल॥
बचनक चातुरि लहु लहु हास।
धरनिय चाँद करत परकास॥
मुकुर लेइ अब करत सिंगार।
सखि पूछइ कस सुरत बिहार॥
निरजन उरज हेरइ कत वेरि।
हस इन अपन पयोधर हेरि॥
पहिल बदरि सम पुन नव रंग।
दिन दिन अनंग अगोरल अंग॥
माधव पेखलु अपरुप बाला।
शैशव यौवन दुहु यक भेला।
विद्यापति कह तुहु अगेयानी॥
दुहु यक योग यही कहे सयानी॥
: विद्यापति :

सूरदास की राधा में परवर्ती कवियो द्वारा वर्णित राधा के सभी मोहक स्वरूप आ गये हैं, जो जिस पर चाहे मुग्ध हो ले। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी को सूर की सरल

१—मृदमद सौरभ रस—वशावद नव दल मालत माले।
युवजन हृदय-विदारण-मनसिज नव रुचि-किंशुक जाले।
मदन महीपति कनक दंड-रुचि केसर-कुसुम-विकासे।
मिलित-शिलीमुख-पाटल पटल कृतस्मर तूण विलासे॥
: जयदेव :

बालिका ने अधिक लुभाया है। द्विवेदी जी के अनुसार "वास्तव में सूरदास की राधिका शुरू से आखिर तक सरल बालिका है। उसके प्रेम में 'चंडीदास' की 'राधा' की तरह पद-पद पर सास-ननद का डर भी नहीं है और सदन में हास की चातुरी भी नहीं है।"[१] पर उसका प्रौढ़ा रूप कम सुन्दर नहीं—

"आप उठी ऑगन गई फिरि घर ही आई
कबधौं मिलिहौं स्याम कौं पल रह्यो न जाई
फिरि फिरि अजिरहि भवनहि तलवेली लागि
सूर स्याम के रसभरी राधा अनुरागि"

: सूरसागर १९६६ :

राधा-कृष्ण की क्रीड़ाओं के वर्णन में सूरदास ने न जाने कितने भावों की कल्पना की है। "सूर पहले भक्त थे बाद में और कुछ उन्होंने जो कुछ कहा है माधुर्य भक्ति के आवेश में। इतना जरूर मानना पड़ेगा कि वे 'जयदेव', विद्यापति शृङ्गारिक कवियों से प्रभावित अवश्य थे।"[२] शृङ्गारिक कविताओं के माध्यम से भक्ति-भावना का पूर्ण निर्वाह तो 'सूर' की रचनाओं में हुआ है किन्तु उनकी बाद की रचनाओं में 'रसखान' ऐसे एकाध सरस भक्त कवियों को छोड़कर अन्य हिन्दी के कविताओं में भक्ति-भावना सम्बन्धी परवर्ती कवियों का-सा संयम सुरक्षित नहीं रह सका। 'राधा' शृङ्गार की प्रधान देवी के रूप में हिन्दी कवियों द्वारा स्वीकार कर ली गयी थी जिससे शृङ्गारिक कविताओं के बदले हुये मूल्य के साथ-साथ उनके स्वरूप में भी परिवर्तन आया। इस परिवर्तन के मूल में तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का हाथ है जिस पर मुस्लिम संस्कृत की स्पष्ट छाप है। ऊपर ही इसका उल्लेख किया जा चुका है कि हिन्दी मध्यकालीन कविताओं पर जिस समाज, सभ्यता अथवा संस्कृति का प्रभाव पड़ा है उसका सम्बन्ध भारतीय गाँवों से नहीं बल्कि नगरों और दरबारों से है। देश के अधिकांश भूभाग पर मुसलमानों का राज्य था और जो छोटे मोटे राजाओं और नवाबों के दरबार थे वे या तो दिल्ली के करद थे अथवा उनकी दया पर शासन करते थे। इन दरबारों में भी दिल्ली दरबार की बहुत कुछ नकल होती थी। इस प्रकार शासक और शासित अथवा मुस्लिम और हिन्दू संस्कृत का अद्भुत सम्मिलन इस काल में हुआ। हिन्दू संस्कृति की स्वाभाविक कट्टरता पर मुस्लिम संस्कृत के शासक वर्ग से अधिक काल तक सम्बन्धित रहने के कारण अप्रत्याशित प्रभाव पड़ा, जिससे 'राधा' के प्रति जो पूज्य भावना पूर्ववर्ती कवियों में थी वह परवर्ती कवियों में नहीं रह पाई। अपवाद स्वरुप कुछ कवियों में जो शुद्ध भक्ति भावना के दर्शन मिल जाते हैं, उसके मूल में उन कवियों की व्यक्तिगत सामाजिक परिस्थिति ही है। जिन कवियों को दरबारों का आश्रय नहीं मिला था, अथवा उन्होंने स्वीकार नहीं किया था और वे सामाजिक जीवन से पूर्ण विरक्त होकर भक्त होने के साथ ही साथ कवि भी थे, उनकी ही रचनायें शृङ्गारिक होती हुई भी 'भक्त काव्य' की श्रेणी में आ पाई हैं। शेष शृङ्गारिक कवियों की कविताओं में 'राधा' शब्द केवल सुमिरन का बहाना ही रह गया, इसमें संदेह नहीं।

१—मध्यकालीन धर्म साधना—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १६४।
२—सूर और उनका साहित्य—डा० हरिवंशलाल शर्मा, पृ० ४८१।

'राधा' तत्व को प्रभावित करने वाली धार्मिक प्रवृत्तियाँ—

हिन्दू स्वभाव से दार्शनिक, गम्भीर एवं चिन्तक होता है जिससे हिन्दू सभ्यता और संस्कृति भी सदैव से मर्यादावादी रही है किन्तु इस संस्कृति का मेल एक ऐसी संस्कृति से हुआ जो आनन्दी प्रवृत्ति की थी और जीवन के भौतिक सुखो पर अधिक बल देने वाली थी। यह संस्कृति मुसलमानो की थी जो विदेश से आने वाले अनार्य थे और भारत में बस ही नहीं गये थे बल्कि उस पर शासन भी करते थे यह मुस्लिम अथवा इस्लामी संस्कृति हिन्दू संस्कृति की तुलना में जवानी थी और चढ़ती जवानी वाली भावुकता भी इस संस्कृति में प्रचुर मात्रा में वर्तमान थी।

इस्लामी संस्कृति की इस जवानी और भावुकता के साथ हिन्दू संस्कृति का संक्रमण हुआ। यहि कारण है कि भारत में इस्लाम धर्म के प्रचारित हो जाने के बाद जो भी हिन्दी काव्य लिखे गये उनपर फारसी और उर्दू साहित्य की भावुकता का अक्षुण्ण प्रभाव पड़ा है। "किसी लेखक ने लिखा है कि यदि तुम बौद्धिक चिन्तन, सूक्ष्म विवेचन और तर्क चाहते हो तो किसी हिन्दू का संगति करो किन्तु उछलना-कूदना, हँसना-तैरना तुम्हारा उद्देश्य है तो कोई मुसलमान साथी अच्छा रहेगा। वैसे तो मुसलमान भी चिन्तक है और हिन्दू भी तैराक होते हैं किन्तु इन दोनो की मूल संस्कृतियों में जो भेद था (अथवा है) उस पर इस उक्ति से अच्छा प्रकाश पड़ता है। यहाँ उस लेखक ने स्पष्ट ही, हिन्दू को चिन्तन शील और मुसलमान को भावुक माना है जो बात ठीक है, क्योकि हिन्दू जन्म से विचारक एवं मुसलमान जन्म से कवि होता है।"[1]

प्रत्येक धर्म की अपनी अलग-अलग मर्यादा एव स्वीकृत होती है जिसका पालन करना उसके अनुयायियो के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। सम्भवतः इस्लाम धर्म के अन्तर्गत पैगम्बरो को छोड़ कर 'भगवान्' अथवा 'खुदा' के सम्बन्ध में किसी अन्य व्यक्ति को कुछ कहने अथवा उसके चरित्र का वर्णन करने का अधिकार नहीं दिया गया, किन्तु हिन्दू धर्म के किसी भी सम्प्रदाय में ऐसा प्रतिबन्ध नही लगाया गया है यही कारण है कि मुसलमान कवि अपनी कविताओं में 'खुदा' की करामातों अथवा लीलाओं का वर्णन करते हुये नहीं पाये जाते। शृंगार के क्षेत्र में 'इश्क मज़ाजी' से ही 'इश्क हकीकी' की कल्पना मुसलमान कवि कर लेता है अथवा उसे हे 'खुदा' तक पहुँचने का प्रथम सोपान मान बैठता है। कवि स्वयं 'खुदाई' बातों का जिक्र नहीं करता बल्कि पाठक अथवा श्रोता स्वयं अपनी रुचि-अनुसार कभी लौकिक और कभी पारलौकिक प्रेम की कल्पना कर लिया करता है। यही कारण है कि 'उर्दू कविता' की 'माशूका' और रहस्यवाद की 'प्रेमिका' में महान अन्तर पड़ जाया करता है क्योकि प्रथम के साथ कवि की वैयक्तिक अनुभूति रहती है और दूसरी के साथ कोरी कल्पना अथवा कभी कभी आत्म प्रवंचना। हिन्दी कवियो पर भी मुसलमान कवियों की इस प्रवृत्ति का प्रभाव पड़ा। अपने ईश्वर अथवा आराध्य देवता एवं देवी के नाम का तो बहिष्कार इन लोगों ने नहीं किया किंतु उनके चित्रण में उर्दू-फारसी कीसी लौकिकता लादी जिससे धीरे धीरे उनका अलौकिक रूप लौकिकता की भूमि पर आ गया

१—संस्कृति के चार अध्याय—दिनकर—पृ० ३४८

और भक्ति के नाम पर केवल नाम भर ले लेना पर्याप्त समझा जाने लगा। प्राचीन सामाजिक एवं धार्मिक परम्पराओं में भी कुछ ऐसे विकार उत्पन्न हो गये थे जिसने हिन्दू समाज की पूर्ण सांस्कृतिक भूमि को झकझोर दिया।

मुगल कालीन भारत में मध्यवर्ग अथवा बुद्धिजीवीवर्ग प्रायः नगण्य था। कुछ दरबारी वकीलों और स्वतंत्र हकीमों तक ही बुद्धिजीवीवर्ग सीमित था। उल्मा तथा विद्वान सम्पूर्ण देश में तो फैले थे किन्तु उनका सम्मान करने योग्य भारत के ग्राम नहीं रह गये थे, केवल दरबारों में ही उन्हें आदर प्राप्त हो सकता था जिससे अधिकांश व्यक्ति राज्य के नौकर थे अथवा राजाश्रित थे। जिससे यह अत्यन्त स्वाभाविक था कि वे उच्चवर्ग के अनुयायी होकर चलते और उनको प्रसन्न करके अपनी सुख-सुविधा बढ़ाने की कामना किया करते। इस वर्ग के ही हाथों में तत्कालीन काव्य, कला और संस्कृति सब कुछ थी जो उनके आसपास घिरे हुए समाज के आचार-विचार को माध्यम मानकर निर्मित होती थीं।

हिन्दुओं में सबसे प्रभावशाली धर्म उस समय का वैष्णव धर्म था जिसकी चार धारायें हो गई थीं; रामानुज, चैतन्य, बल्लभ तथा रामानन्द चार महापुरुषों का जिन पर प्रभाव था। इसमें सन्देह नहीं कि इन वैष्णवों ने मानव-रूपी भगवान् की सहज पूजा और अकृत्रिम भक्ति का प्रचार करके उस समय के पराधीन हिन्दू भारत का बहुत बड़ा कल्याण किया। इन लोगों ने नैराश्य में डूबी तत्कालीन जनता को उबारने में बड़ा योग दिया है। इस धार्मिक आन्दोलन के कारण साहित्य-सृजन, संगीत के उत्कर्ष तथा देवालयों के निर्माण द्वारा देश की सांस्कृतिक निधि को बढ़ाया। पर साथ ही साथ उनमें कुछ व्यक्ति ऐसे भी हुये जिन्होंने अनेक दोषों को भी प्रश्रय दिया।

पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का लोगों ने अनुचित लाभ उठाया, जिससे अनेक सामाजिक व्यभिचारों की सृष्टि हुई। अयोग्य अथवा अपात्र व्यक्ति के हाथों में पड़ कर अच्छी से अच्छी वस्तु का परिणाम अनुचित प्रयोग के कारण बुरा हो जाता है। बौद्ध धर्म के अन्तिम दिनों में वज्रयान सम्प्रदाय का बड़ा जोर था उसके प्रभाव से 'पंच म कार सेवन' का बहुत प्रचार हुआ। महासुख की प्राप्ति के लिये त्रिपुर सुन्दरी को पराशक्ति के रूप में निरन्तर साथ रखना आवश्यक माना जाने लगा। तंत्रवाद में रति और शृङ्गार की भावना को नया स्वरूप और आध्यात्मिकता का रंग मिला। वैष्णव धर्म में नारी पुरुष की पूरक दिव्यशक्ति के रूप में अवतरित हुई। उज्ज्वल नीलमणि में राधा को कृष्ण की ह्लादिनी शक्ति स्वरूपा बताया गया जिनके सहवास के बिना कृष्ण अपूर्ण रहते हैं। 'चैतन्य देव' ने परकीया प्रेम को भक्ति का मुख्य साधन बताया। नारी-पुरुष के सामान्य प्रेम के विविध पक्षों का ज्यों का त्यों भक्ति के विविध पक्षों के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया"[1] इस प्रकार भक्तिभावना में लौकिक प्रेम की स्वीकृति मिल जाने के कारण कवियों के लिये थोड़ी स्वतन्त्रता मिली क्योंकि धार्मिक बन्धन कुछ ढीले पड़ने लग गये। इससे भी अधिक छूट देवालयों तथा धार्मिक सम्प्रदायों में काम करने वाले ऐसे पण्डों और पुजारियों ने लेली जिनका मन संस्कृत नहीं हुआ था बल्कि जो सम्मान अथवा जीविकोपार्जन के लिए ऐसी संस्थाओं में चले आये

१—विद्यापति—डा० शिवप्रसाद सिंह—पृ० १०३

थे। इस प्रकार के सामाजिक विकारों की जो छाया काव्य कला पर पड़ी उसका परिणाम आगे लिखी जाने वाली कविताओं पर बहुत कुछ अस्वस्थ रहा। ऐसे लोगों की भी कमी नहीं रह गयी थी जो यह कहते थे कि सम्पूर्ण सृष्टि में 'कृष्ण' को छोड़ कर और कोई पुरुष नहीं है, शेष सब प्रकृति हैं। जगत नारीमय है जिसमें रमण करने वाले अकेले 'कृष्ण' पुरुष हैं।

अतः ऐसे लोग अपने को राधारानी अथवा उनकी सखी स्वीकार करते हैं। इसे सखी-सम्प्रदाय कहते हैं। इस सम्प्रदाय में दीक्षित पुरुष स्त्रियों का वेष धारण करते, स्त्रियों का-सा नाम रखते तथा स्त्रियों की तरह बोलते हैं। अस्तु इन बनावटी स्त्रियों और नकली स्त्रियों के पारस्परिक स्वच्छन्दमिलन में कोई सैद्धान्तिक अड़चन नही है। उसमें कोई भय भी नहीं है क्योंकि वे दोनों ही तो स्त्रियाँ हैं। किन्तु कभी कभी बनावटी स्त्री अपना असली रूप प्रकट कर देती थी और उस दशा में गुप्त व्यभिचार को उत्पत्ति होती थी। इस प्रकार लोगों ने कृष्ण-भक्ति के लिये प्रेम के महत्त्व का प्रतिपादन किया और कृष्ण के रास का व्यक्तिगत अनुभव करने के लिये उन्होंने गोपियों को इकट्ठा भी किया। कुछ लोगों ने प्रेम-साधना के लिये धोबिनों अथवा अन्य नीच जातियों के साथ प्रेम करने की सलाह दी। इसका भी बहुधा व्यभिचार में अन्त हुआ। सिद्ध सन्तों जैसे कुछ धार्मिक सम्प्रदायों में गुरु को सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है और उनके अनुसार गुरु को सब कुछ अर्पण करना चाहिये, गुरु और भगवान् एक ही हैं। गुरु की कृपा से ही भगवद्-प्राप्ति सम्भव है, इसलिये गुरु को तन, मन और धन देना चाहिये। शिष्यों द्वारा समर्पित तन-मन का कुछ पापाचारियों ने दुरुपयोग किया और इनको इस भ्रम में रखा कि यह भी साधना का अंग है तथा वे परीक्षा में खरी उतर रही हैं, इसलिये उनकी मुक्ति निश्चित है। इस प्रकार के हथकंडों द्वारा अनेक साधु-वेशी दुष्टों ने अनेक परिवारो को कलंकित किया है।

सामंती एवं दरबारी जीवन के विलास-वैभव का प्रभाव ऐसे साधु-महात्माओं पर भी पड़ा जो दरबारी अमीरों अथवा शासकों के किसी न किसी प्रकार सम्पर्क में थे। ऐसे लोगों की संख्या अधिक थी क्योंकि धार्मिक संस्थाओं का संचालन धनिकों, सामंतों अथवा शासकों की देख-रेख अथवा सहायता से चलता है। अतः दरबारों, अमीरों अथवा शासकों से सम्पर्क होने पर इन कुछ महात्माओं का मानसिक संतुलन नष्ट हुआ। वे "भगवान् के भोग में मनो कस्तूरी तथा बहुमूल्य वस्तुओं के डालने की डींग मारने लगे। मठाधीश राजसी ठाट से रहने लगे जिससे उनका संयम गिरा।"[१] मठों तथा देवालयों में देव-दासियों के रहने की प्रथा पहले से ही वर्तमान थी जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। राधा-वल्लभ सम्प्रदाय के माध्यम से मठों एवं देवालयों में कीर्तनों द्वारा उन्मादिनी शक्ति को प्रधानता मिली और संतुलित तथा संयत रहने में बाधा पड़ी। साधारण कोटि के मनुष्यों पर इसका भयंकर परिणाम हुआ। कुछ पापाचारियों ने राधा और कृष्ण के प्रेम को वीभत्स तथा कुत्सित रूप में प्रकट किया। उन्होंने उसे अध्यात्मजगत में आत्मा और काया के मिलन के स्थान पर कामुक स्त्री-पुरुष का रतिरत होना समझ लिया।

१—मध्यकालीन भारत—अवधबिहारी पाण्डेय।

शृंगारपरक हिन्दी रचनाकाल के आस-पास सूफी सम्प्रदाय के मुसलमान संत भी हिन्दी में हिन्दू धर्म में प्रचलित अथवा इतिहास प्रसिद्ध कथाओं को लेकर प्रेमपरक रचनायें कर रहे थे, जिनमें वैष्णवों से ही दोष वर्तमान थे। सूफी साधक कवियों ने कल्पित कहानियों द्वारा प्रेम-मार्ग का महत्त्व दिखाया है और "लौकिक प्रेम के बहाने उस 'प्रेमतत्त्व' का आभास दिया है जो प्रियतम ईश्वर से मिलाने वाला है। इन प्रेम-कहानियों का विषय तो वही साधारण होता है अर्थात् किसी राजकुमार का किसी राजकुमारी के अलौकिक सौन्दर्य की बात सुन कर उसके प्रेम में पागल होना और घरबार छोड़ कर निकल पड़ना तथा अनेक कष्ट और विपत्तियाँ झेल कर अन्त में उस राजकुमारी को प्राप्त करना, पर 'प्रेम' की पीर की जो व्यंजना होती है, वह ऐसे विश्व व्यापक रूप में होती है कि वह प्रेम इस लोक से परे दिखाई पड़ता है।"[1] किन्तु कथानक की लौकिकता और उसका प्रेम व्यंजक स्वरूप साधारणतः पाठकों के मन में मासल प्रेम की ही सृष्टि करता है। इसका प्रधान कारण सूफियों की प्रेम-पद्धति ही है जिसके कारण वे इश्कमिज़ाजी को इश्कहक़ीकी की पहली सीढ़ी मानते हैं। इस प्रकार इनको कविताओं के रूपकों को लौकिक और अलौकिक दोनों रूपों में लिया गया, किन्तु इनमें लौकिकता का स्वर अपेक्षाकृत तीव्र था। इनकी जो सबसे बड़ी विशेषता थी वह यह कि मुसलमान होते हुए भी इन लोगों ने अपने काव्य के विषय हिन्दू धर्मशास्त्रों तथा इतिहासों से ही ग्रहण किये। इनके प्रबन्ध अथवा महाकाव्यों के प्रधान पात्र हिन्दू राजे अथवा रानियाँ ही हुई जिससे हिन्दू जनता में इनकी रचनाओं का अत्यधिक प्रचार हुआ क्योंकि प्रेमपरक काव्य होने के नाते इनसे शृंगारिक भावों को भी तृप्ति मिलती थी और उन्हें ऐतिहासिक रस का भी पूरा-पूरा आनन्द मिल जाता था। मुसलमानों के पूर्णतः भारत में जम जाने के कारण राम-रहीम की एकता का प्रचार तो होने ही लगा था, इसके अतिरिक्त एक दूसरे में सम्बन्ध सूत्र बाँधने के लिये प्रेम की पुकार भी मचलने लगी जिसकी महत्ता का प्रतिपादन भावुकता के साथ किया जाने लगा। विदेशी लोग सगुण को स्वीकार नहीं करते थे अतः निर्गुण भावना का जोर बढ़ गया था और सूफियों की तीव्र प्रेम वेदना की ओर यहाँ के लोग भी झुके।

हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति की एकता अथवा मेल को स्थायी बनाने का प्रयत्न बाह्य और आभ्यन्तर दोनों ओर से किया जा रहा था। सम्राट अकबर ने 'दीनइलाही' की स्थापना करके तथा संस्कृत और अरबी-फारसी के विद्वानों का एक ही समय एक ही स्थान पर सम्मेलन अथवा शास्त्रार्थ कराके इसको सफल बनाने का ठोस कदम भी उठाया था। इसके अतिरिक्त सूफी संतों की काव्य साधना के माध्यम से पारस्परिक धार्मिक वैमनस्य एवं कटुता को समाप्त करने का प्रयत्न हो रहा था जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। सांस्कृतिक दृष्टि से सूफी साहित्य का कार्य बड़े महत्त्व का सिद्ध हुआ। सूफी साधक शुरू शुरू में पंजाब और सिंध में आकर बस गये और धीरे-धीरे इनकी परम्परा सारे भारतवर्ष में फैल गई। "उनदिनो भारतीय चिंता की परिणति भक्ति आन्दोलन के रूप में हो चुकी थी। समूचा देश इस सिरे से उस सिरे तक भक्ति की रस-माधुरी में सुस्नात हो रहा था। सूफियों की साधना अनेकांश में इन सन्तों के अनुकूल थी। ये साधक अन्यान्य मुसलमानों के समान

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ७३।

कट्टर और विरोधी नहीं थे, इसीलिये भारतीय जनता ने विश्वासपूर्वक इनकी साधना के प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित की।"[१] इस प्रकार हिन्दू संस्कृति, मुस्लिम संस्कृति के सन्निकट आकर तथा उससे प्रभाव ग्रहणकर हिन्दी कवियों के लिये नयी ताजगी के साथ प्रस्तुत हुई। सखी सम्प्रदाय और सूफियों के इश्कहक़ीकी में केवल इतना ही अन्तर जान पड़ता है कि एक ईश्वर को पुरुष और समस्त जगत को नारी मानता है और दूसरा ईश्वर को नारी और समस्त जगत को पुरुष मानता है। सूफी-संतों की भाँति हिन्दी कवियों को न तो विदेशी भूमि पर कविता करनी थी और न तो उन्हें अन्य जाति की ऐतिहासिक कहानियों को ही ढूँढ़ना था क्योकि उनके सामने कृष्णचरित की विशाल परम्परा मौजूद थी और उसमें त्रिपुर सुंदरी तथा 'राधारानी' का अवतार भी हो चुका था। मुसलमान कवियों की भाँति 'भगवान' से इश्क करने का साहस हिन्दी कवि नहीं कर सके किन्तु कृष्ण-रूप में अपनी मानसिक ग्रन्थि एवं कुण्ठाओं को अभिव्यक्ति देने से भी वे बाज नही आये, जिससे 'राधा' का धार्मिक स्वरूप प्रायः लुप्त सा होकर लौकिकता में परणित हो गया। कविगण 'राधा' का केवल नाम भर ले लिया करते थे, पर वास्तव में वे लौकिक जीवन में आने वाली नायिकाओं का ही चित्रण करते थे। जिस प्रकार लोगों ने कृष्ण के माध्यम से अपनी वैयक्तिक अनुभूति को ही काव्य का स्वरूप प्रदान किया, उसी प्रकार लौकिक जीवन में आने वाली नायिकाओं के प्रतीक स्वरूप 'राधा' की कल्पना की। साधारण धर्मभीरु पाठक ऐसी आशिकाना रचनाओं का अभ्यासी भी हो गया था, वह 'पद्मिनी' के रूप में अलौकिक ब्रह्म एवं राजा रत्नसेन की विह्वलता में मानव की व्याकुलता का अनुभव करने लग गया था जिससे 'राधाकृष्ण' के लौकिक प्रसंगों की चर्चा करने में हिन्दी कवियों को किसी भी प्रकार की कठिनाई का भी अनुभव नहीं करना पड़ा। इस काल के कवि भारतीय समाज के साधारण परिवार के थे, जो दरबारी अथवा नगरी सभ्यता में पूर्णतः रंग जाने पर भी, उससे अपना सम्बन्ध पूर्णतः विच्छेद नहीं कर सके। भारत की जनता धर्म प्राण थी और धार्मिक आन्दोलनों के बीच से गुजरती हुई दरबारी सभ्यता तक पहुँची थी। किन्तु इस दरबारी सभ्यता का प्रभाव उस पर नहीं पड़ पाया था बल्कि वह दरबारों से सम्बद्ध कवियों एवं कलाकारों तक ही सीमित था, जिससे उसके धार्मिक संस्कार पूर्णतः बने थे। यही कारण है कि शृङ्गारिक कवि राधा तत्त्व की सहायता से अपना सामाजिक सम्पर्क बनाये रखना चाहते थे। किन्तु इस राधा तत्त्व का सम्बन्ध धार्मिक भावनाओं से उतना ही है, जितना कि दरबारी संस्कृति में पलने वाले कवियो का उनके ग्रामीण परिवार अथवा समाज से। इसमें सन्देह नहीं कि 'भक्ति के बीच से आने के कारण 'शृंगार' के प्रधान आलम्बन राधा और कृष्ण ही रहे, नहीं तो प्राकृत, अपभ्रंश तथा लोक गीतों तक में प्रेम की अभिव्यक्ति ऐसा आवरण लेकर नहीं हुई। आदि काल या वीर गाथा काल में लौकिक जीवन के वीरोल्लास का ही चित्रण था। उस समय तक हिन्दी साहित्य ने अपनी प्राकृत परम्परा ही रक्षित रखी। पर भक्ति काल में साहित्य संस्कृत की ओर गया 'श्रीमद्भागवत' और ब्रह्म वैवर्त पुराण की कृष्ण लीला दृष्टि गत रही। अलौकिकता में प्रविष्ट हो जाने से फिर जब कवि लोग जीवन

१—हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० ५६।

की ओर मुड़े तब भाषा की परम्परा पीछे छूट गई। परकीया प्रेम की उक्तियाँ अधिक कही गईं। अपभ्रंश या लोक वाङ्मय की सी स्वकीया प्रीति परक मार्मिकता शृंगार काल के कवि भूल बैठे।' इस प्रकार 'राधातत्त्व' की कल्पना संस्कृति एवं समाज का बदलता हुआ स्तर है। हिन्दी कवियों को शृंगार वर्णन के लिये 'राधा' का परकीया स्वरूप ही क्यों कर अधिक रुचिकर हुआ, इसके भी मूल में बहुत कुछ इस्लामी संस्कृति है जिसकी चर्चा अन्य प्रसंगों में आगे की जायगी।

उपरोक्त प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि 'राधातत्त्व' का क्रमिक ऐतिहासिक विकास हुआ है, जिस पर बदलते हुए सामाजिक स्तर का प्रभाव स्पष्ट लक्षित है। 'राधा' शब्द का उल्लेख दसवीं शताब्दी के पूर्व नहीं मिल पाता, परंतु ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि ब्रज के निकटवर्ती जनसमाज में कृष्ण के साथ राधा के प्रेम की चर्चा लोकगीतों के माध्यम से होती रही। विक्रम संवत् के आरम्भ में प्राकृत-गाथाओं में 'राधा' का उल्लेख हुआ है, किंतु संस्कृत साहित्य में उसका प्रवेश शताब्दियों बाद हुआ। "प्राकृत गाथाओं के अनुकरण पर सर्वप्रथम कृष्ण की प्रेयसी रूप से राधा का उल्लेख काव्यों में हुआ, तदनन्तर उनकी शक्ति रूप से धार्मिक ग्रन्थों में और फिर उपास्य क्षेत्र के सर्वोच्च शिखर से उतार कर कवियों ने लौकिक शृंगार द्वारा उनको नायक-नायिका के निम्न धरातल पर ला खड़ा किया।"[२]

शृङ्गार के उभय पक्ष—

साधारणतया विद्वानों ने (१) संयोग या संभोग तथा (२) वियोग अथवा विप्रलम्भ नाम से शृङ्गार के दो भेद माने हैं। विद्वानों का कथन है कि शृङ्गार का एक तीसरा भेद 'पूर्वानुराग' भी है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि संयोग के पूर्व ही प्रेम उत्पन्न हो जाता है और प्रेमी अपने प्रेमपात्र के लिये उसी प्रकार तड़पता है जिस प्रकार कि वियोग काल में। प्रेम की इस अवस्था को शृङ्गार का एक अलग भेद स्वीकार कर लेना उचित नहीं जान पड़ता क्योंकि किसी अपरिचित के साथ प्रेमसूत्र में बँधने की बात स्वाभाविक नहीं कही जा सकती और यदि चित्र देखने अथवा किसी तीसरे व्यक्ति से प्रशंसा आदि सुनने के कारण प्रेम उत्पन्न हो भी जाता है तो हम उन प्रेम उत्पादक घटनाओं को भी संयोगावस्था के रूप में ले सकते हैं। इसके अतिरिक्त प्रेम की सारी विवृति प्रेमीजनों के बीच उसी प्रकार की होती है जैसी कि वियोगकाल में। अतः पूर्वाराग की अवस्था को हम एक स्वतंत्र भेद के रूप में नहीं स्वीकार कर सकते। संयोग और वियोग दो ही प्रमुख ऐसी अवस्थायें हैं जो शृङ्गारिक चेष्टाओं को विकसित करने में सहायक होती हैं।

अधिकांश विद्वान 'संयोग' के बाद 'वियोग' की स्थिति स्वीकार करते हैं किन्तु आचार्य कवि 'देव' ने इस क्रम को स्वीकार नहीं किया है। उनके अनुसार पहले वियोग होता है न कि संयोग। आचार्य 'देव' ने शृङ्गार के प्रमुख दो भेद स्वीकार किये हैं और संयोग तथा वियोग इन दो भेदों को उन्होंने प्रच्छन्न और प्रकाश दो विभेदों में बाँटा है। वियोग

१—बिहारी—पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र।

२—ब्रजभाषा साहित्य का नायिका भेद—प्रभुदयाल मीतल—पृ० २७

शृङ्गार को · शोकात्मक स्वीकार करते हुए उन्होंने इसकी चार अवस्थाओं १—पूर्वानुराग, २—मान, ३—प्रवास और ४—सम्भोग का वर्णन किया है। उन्होंने संयोग को वियोग के बाद माना है, यानी यह वियोग के बीच में ही आ जाता है, क्योंकि पूर्वानुराग के बाद मिलन और मिलन के पश्चात् मान तथा प्रवास आदि अवस्थायें आती हैं। इस प्रकार का वर्गीकरण हिन्दी आचार्यों में 'देव' की अपनी मौलिक विशेषता है।

संयोग या सम्भोग शृङ्गार—

जब कवि स्त्री-पुरुष अथवा नायक-नायिका के मिलनकाल के प्रेम अथवा विभिन्न चेष्टाओं का वर्णन करते हैं तो उसे संयोग अथवा सम्भोग शृङ्गार कहा जाता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि पारस्परिक प्रेम के वशीभूत होकर जब नायक-नायिका एक दूसरे के दर्शन, मिलन, स्पर्श और आलाप आदि में संलग्न होते हैं, उस अवस्था को संयोग शृङ्गार कहते हैं।"[1] अर्थात् नायक और नायिका जिस मिलाप से प्रसन्न होते हैं, उसे संयोग शृङ्गार कहा जाता है—

"प्रमुदित नायक-नायका जिहिं मिलाप मैं होत।
सो संयोग-सिंगार कहि बरनत सुमति उदोत॥
—मतिराम—रसराज—३४४।

संयोग काल में उत्पन्न भावों को 'हाव' की संज्ञा दी गई है, जिनकी कुल संख्या दस मानी जाती है। ये 'लीला', 'विलास' 'विच्छित्ति', 'विभ्रम', 'किलकिंचित', 'मोट्टाइत' 'कुट्टमित', 'विब्वोक' 'ललित', और 'विहित' हाव, केवल संयोग शृङ्गार में ही पाये जाते हैं।[2] संयोग शृङ्गार को छोड़कर इन हावों की उत्पत्ति अन्यत्र नहीं हो सकती। साहित्यदर्पणकार ने संभोग शृङ्गार का लक्षण इस प्रकार दिया है—

दर्शनस्पर्शनादीनि निषेवेते विलासिनौ।
यत्रानुरक्तावन्योन्यं सम्भोगोऽयमुदाहृतः॥
संख्यातुमशक्यतया चुम्बनपरिरम्भणादि बहुभेदात्।
अयमेक एव धीरैः कथितः संभोगशृङ्गारः॥

अर्थात् एक दूसरे के प्रेम में पगे नायक और नायिका जहाँ परस्पर दर्शन स्पर्श आदि करते हैं, वह सम्भोग शृङ्गार कहलाता है। चुम्बन आलिंगन आदिक इसके अनन्त भेदों की गिनती नहीं हो सकती। अतः सम्भोग शृङ्गार नामक एकही भेद माना है।"[3]

१—रीति कालीन कविता एवं शृगार रस का विवेचन—५१० राजेन्द्र प्रसाद चतुर्वेदी पृ० २०।

२—दंपति के संयोग मैं होत प्रगट जे भाव।
ते संयोग सिंगार मैं बरनत सब कवि हाव॥
लीला प्रथम, विलास पुनि, त्यों विच्छित्ति बखान।
विभ्रम किलकिंचित बहुरि मोट्टाइत मन आन॥
बहुरि कुट्टमित कहत है, पुनि बिब्बोक बखान।
ललित बरनि अरु बिहित कहि, सकल हाव मन जान॥ मतिराम-रसराज।

३—रीति कालीन कवितायें व शृगार का विवेचन—५१० राजेन्द्र प्रसाद चतुर्वेदी पृ० २०।

संयोग श्रृङ्गार के अन्तर्गत ही कविगण एकान्त स्थान, बन, उपवन, सखी, सदन, ऋतु-वर्णन तथा स्नानादि का उल्लेख करते हैं। 'काव्य प्रकाश' कार ने (१) अवलोकन (२) आलिंगन (३) सर्वांग चुम्बन (४) फूल बटोरना (५) जलक्रीड़ा (६) सूर्यास्त (७) चन्द्रोदय (८) छओं ऋतुओं आदि के वर्णन को संयोग श्रृङ्गार का प्रमुख अंग माना है।

हिन्दी मुक्तककारों ने विप्रलम्भ अथवा वियोग श्रृङ्गार वर्णन में जितना रस लिया उतना संयोग श्रृङ्गार में नहीं। संयोग श्रृङ्गार में नायक-नायिका के पास-पास होने के कारण मार्मिक प्रसंगों की चर्चा के लिये कवि को अवकाश नहीं मिल पाता, जब कि वियोग श्रृङ्गार में प्रणयवेदना की विभिन्न अवस्थाओं को चित्रित करने के लिये पर्याप्त भूमि उपलब्ध रहती है और सबसे बड़ी बात तो यह है कि सम्भोगकालीन श्रृङ्गार वर्णन में अश्लीलता आने की अधिक सम्भावना रहती है जो श्रेष्ठ काव्य के लिये पूर्णतः बर्जित है। कवि को विवश होकर नायक-नायिकाओं के रति सम्बन्धी जघन्य व्यापारो की चर्चा करनी ही पड़ती है जिससे वियोग कालीन श्रृङ्गार की स्वस्थ एवं पवित्र परम्परा मे पूर्ण दोष आ जाता है। भारतीय काव्य परम्परा में ऐसे साहित्य की सदैव उपेक्षा रही है। अतः हिन्दी मुक्तककारों में भी अपेक्षाकृत संयोग अथवा सम्भोग श्रृङ्गार का वर्णन न्यून मात्रा में पाया जाता है। स्त्री का वासनामय आकर्षक रूप एवं प्रेम की मांसलता मानव मात्र के लिये इतनी आकर्षक होती है कि उसकी उपेक्षा कर जाना भी उसके लिये सर्वथा सम्भव नहीं हो पाता जिससे संयोग श्रृंगार का हिन्दी मुक्तकों में नितान्त अभाव है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। जहाँ कही भी हिन्दी कवियों में संयोग श्रृंगार का प्रसंग आया है उनमें अश्लीलता के अवांछित चित्र देखे जा सकते है।

हिन्दी काव्य में श्रृंगारबहुल साहित्य का वास्तविक आरम्भ विद्यापति से ही हो जाता है, जिनमें राधा-कृष्ण सम्बन्धी संयोग श्रृङ्गार के अवाछित चित्र मिलते ही हैं, भले ही भक्त जन उसमें ब्रह्मानन्दसहोदर रस का आनन्द प्राप्त कर लें।

कविवर विद्यापति ने राधा-कृष्ण के प्रथम समागम का वर्णन किया है जो संयोग श्रृंगार के अंतर्गत आता है। समागम सम्पन्न होने के उपरांत सखियाँ 'राधा' से उसकी रतिक्रीड़ा के सम्बन्ध में पूँछ-ताछ करतो हैं जैसा कि स्त्रियों में प्रचलित है। उत्तर में राधा ने अपनी जिस मासूमियत का परिचय दिया है, उससे क्या अश्लीलता का परिहार हो जाता है?

"हँसि हँसि पहु आलिंगन देल
मन मथ अंकुर कुसमित भेल
जब निबि बंधन खसाओल कान
तोहर सपथ हम किछु नहिं जान"

अर्थात् 'राधा' अपनी सखियों को उत्तर देती हुई स्वाभाविक संकोच के साथ कहती है कि जब कृष्ण ने हँस कर मेरा आलिगन किया तो उस समय मुझे कैसा अनुभव हुआ मैं कह नहीं सकती। किंतु इतना अवश्य कह सकती हूँ कि मुझे ऐसा लगा कि मेरे हृदय में जो प्रेम का पौदा अंकुरित था, वह तत्काल फूलों से लद गया। इसके उपरान्त कान्ह ने ज्योंहीं नीबी-बंध हटाया, तुम्हारी सौगंध खा कर कहती हूँ, फिर क्या हुआ मुझे कुछ भी नहीं

मालूम। विद्यापति ने उपरोक्त संयोग शृंगार में शालीनता लाने का भरसक प्रयत्न किया है, किन्तु नीबी-बंध तक आते आते उनका भी संयम विचलित हो गया, जिसको पढ़ कर कोई भी व्यक्ति-भक्ति रस मग्न नहीं हो सकता बल्कि उसके काम भावों को ही उकसाहट मिलेगी।

महाकवि सूरदास ने भी संयोग शृंगार का वर्णन किया है, किन्तु उनका वर्णन अपेक्षाकृत अधिक संयत रहा है। उन्होंने राधा-कृष्ण की क्रीड़ाओं के वर्णन में न जाने कितने भावों की कल्पना की है किन्तु उनका संयोग वर्णन रीति कालीन कवियों की भाँति गुल गुली गिलमों और गलीचों तक ही नहीं सीमित रहा है बल्कि उसमें प्रकृति का अनन्त प्रसार है और सीमित संचारियों की कृत्रिम धारा के स्थान पर सरस हृदय का उन्मुक्त भाव वर्णन है। सूरदास ने जो कुछ कहा उन सब में उनकी भक्ति भावना की स्पष्ट छाप है क्योंकि पहले वे भक्त थे, बाद में और कुछ। "उन्होंने जो कुछ कहा है माधुर्य भक्ति के आवेश में। इतना जरूर मानना पड़ेगा कि वे जयदेव, विद्यापति आदि भक्त शृङ्गारी कवियों से प्रभावित अवश्य थे अतः अनायास ही उनके मुँह से जो शृङ्गारी उक्तियाँ निकली उनमें काव्यशास्त्र के अनेक लक्षणों का समन्वय हुआ है। साहित्य लहरी में तो नायिका-भेद के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं।"[1] पर अपनी वियोग परक रचनाओं में सूरदास जितने संयत हैं उतने संयोग शृंगार की रचनाओं में नहीं रह पाये हैं।

अचार्य कवि 'केशव' जब अपनी आरूढ़ यौवना की सुरति का वर्णन करने लग जाते हैं तो पक्षियाँ तक तन्मय हो जाती हैं—

"केशवदास साविलास मन्दहास युत,
अविलोकन अलापन को आनन्द अपार है।
बहिरत सात अस अन्तरित सात सुन,
रीत विपरीतीन को विवध प्रकार है।
छूटि जात लाज तहाँ भूषण सुदेश केश,
टूटि जात हार सब मिटत शृङ्गार है।
कूजि कूजि उठै रति कूजतिन सुनि खग,
सोई तो सुरीत सखि और व्यवहार है॥
: केशव :

शृङ्गार सतसई का रसिक नायक बात का मजा लेते लेते इस सीमा तक उतर आता है कि बेचारी नायिका को आभूषणों की ज्योति में ही लज्जा बचानी पड़ती है, अन्यथा वह बिल्कुल निरावरण हो गई थी।

बसन हरत बस नहिं चल्यौ पिय बतरस बरु आय।
अँगन चिलक तिय नगन की लीनी लाज बचाय॥

बिहारी का नायक तो दीपक के उजाले में ही नायिका को नग्न कर देने पर उतारू हो गया है—

१—सूर और उनका साहित्य—हरिवंश लाल शर्मा

दीप उजेरेहू पतिहि हरत बसन रति काज।
रही लपीट छबि की छटनि नैकौ छुटी न लाज ॥

'मतिराम' की नायिका के कठोर कुचों ने अलिंगन काल में नायक को संत्रस्त कर रखा है, जिससे विलग होने पर भी नायक संयोग का अनुभव कर रहा है—

"लपटानी अति प्रेम सों दे उर उरज उतंग।
घरी एक लगि छूटेहूँ, रही लगी सी अंग ॥"

: मतिराम सतसई :

संयोग काल में कामुक दम्पति केवल रति से सन्तुष्ट न होकर जब विपरीत रति पर उतर आते हैं तो अश्लीलता की सीमा समाप्त हो जाती है। मतिराम का एक छंद देखिये—

प्रान प्रिया प्रिय आनंद सों विपरीति रची रति रंग रह्यो भ्वै,
काम कलोलनि मैं 'मतिराम' रही धुनि त्यौं कटि किंकिनी की है।
आनन की उजियारी परी श्रम बूँद समेत उरोज लखै द्वै,
चंद की चाँदनी के परसे मनो चंद परवान पहार चले च्वै ॥

: मतिराम रसराज :

रात्रि के आगम के पूर्व ही से नायिका समागम के लिये पति के पास जाने की पूरी तैयारी कर रही है। उसने किंकिनी को गले में हार के समान पहन रखा है जिससे रति काल में वह बज न सके और उसका सम्भोग निर्विघ्न समाप्त हो जाय, किन्तु कयामत की नजर रखने वाली सखियाँ ताड़ ही लेती हैं—

साझहिं ते चलि आवत जात, जहाँ-तहँ लोगनि हू न डरौंगी;
प्रीतम सों रति ही यह रूप धौं ह्वैहै कहा अब अंग भरौंगी ?
जानति हौ 'मतिराम' तऊ चतुराई की बात न हौं उचरौंगी;
किंकिनि को उर हार किये कहि कौन सौं जाय बिहार करौंगी ॥

: मतिराम-रसराज :

आचार्य कवि 'देव' के कृष्ण और राधिका, कुंजबन में क्रीड़ार्थ प्रस्तुत हुये हैं, जहाँ वे दोनों परस्पर एक दूसरे के श्रृंगार का ही वर्णन करते नहीं अघाते। राधा, कृष्ण की सुन्दर पाग की सराहना करती है तो कृष्ण उसकी सुन्दर 'साड़ी' की प्रशंसा करते हैं—

आपुस में रस में रहसें-विहसे बनि राधिका कुंजबिहारी।
श्यामा सराहति श्याम की पागहिं श्याम सहाहत श्यामा की सारी ॥
एकहि दर्पन देखि कहै तिय नीके लगो पिय प्यौ कहै प्यारी।
'देव' सुबालम बाल को बाद बिलोकि भई बलि मैं बलिहारी ॥

: देव :

कवि 'पद्माकर' की राधा और कृष्ण संयोग काल में परस्पर एक दूसरे से लिपट कर हिंडोले बन गये हैं—

"सावनी तीज सुहावनी कौ सजि सूहै दिवस सबै सुख साधा।
त्यों 'पद्माकर' देखै बनै, न बनै कहते अनुराग अवाधा ॥
प्रेम के हेम हिंडोरन में, सरसै बरसै रस रंग अगाधा।
राधिका के हिय झूलत साँवरो, साँवरे के हिय झूलत राधा ॥"
: पद्माकर :

· उपरोक्त वर्णन के आधार पर कहा जा सकता है कि सयोग शृंगार अपनी कतिपय दुर्बलताओ के कारण ही कवियों की व्यापक सहानुभूति नहीं ग्रहण कर सका और न तो समाज में उसे व्यापक रूप से ग्रहण ही किया जा सका है। जहाँ तक विप्रलम्भ अथवा वियोग शृंगार का सम्बन्ध है, यह स्वस्थ शृंगारिक काव्य के लिये अत्यन्त उपयुक्त ठहरता है और यही कारण है कि हिन्दी कवियों द्वारा विप्रलम्भ शृंगार की अपार निधि हिन्दी 'मुक्तक' साहित्य को मिली है।

विप्रलम्भ या वियोग शृंगार—

स्त्री-पुरुष के वियोग कालीन प्रेम की अभिव्यक्ति से जिस शृङ्गार की सृष्टि होती उसे विप्रलम्भ या वियोग शृङ्गार कहते हैं। प्रेमी और प्रेमिका जब मिल न पाने के कारण आनन्द के अभाव का अनुभव करते हैं तो उसकी चर्चा वियोग शृङ्गार के अन्तर्गत स्वीकार की जाती है—

"प्यारी पीव मिलाप बिनु होत नही आनन्द।
सो वियोग शृङ्गार कहि बरनत सब कवि-बृन्द ॥"
: मतिराम-रसराज :

अर्थात् प्रेम की तीव्रतम अनुभूति होने पर भी जब उभय प्रेमी परस्पर मिल नहीं पाते तो उस अवस्था को विप्रलम्भ अथवा वियोग शृङ्गार कहते हैं। वास्तव में प्रेम के क्षेत्र में संयोग काल का समुचित आनन्द प्रेमी जनों के बीच आही नहीं पाता क्योंकि मिलन काल में भी वे वियोग की आशंका से त्रस्त रहते हैं और इस प्रकार सयोग में भी वियोग कीसी स्थिति का वे अनुभव किया करते हैं।

विद्वानों ने साधारणतः विप्रलम्भ शृङ्गार के तीन भेद स्वीकार किये हैं जिसके अनुसार (१) पूर्वानुराग, (२) मान और (३) प्रवास की तीन अवस्थाओं का वर्णन किया जाता है। कुछ लोगों ने इसके एक भेद और 'करुण' का भी उल्लेख किया है किंतु यह समीचीन नहीं जान पड़ता क्योंकि सम्पूर्ण वियोग की अवस्था ही कारुणिक होती है। विप्रलम्भ शृङ्गार के उपरोक्त भेदो को भी विद्वानो ने उपभेदों में बाँटा है जिन सब का सफल निर्वाह हिन्दी के दरबारी कवियों में पाया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी कवियों के विप्रलम्भ शृगार की परम्परा अत्यन्त गौरवमयी है।

वियोग शृंगार की व्यापकता—

ऊपर ही संकेत कर दिया गया है, कि विप्रलम्भ अथवा वियोग शृङ्गार में अपेक्षाकृत हृदय की सच्ची अनुभूतियों को व्यक्त करने का अवकाश अधिक मिलता है। "विरह अवस्था में ही शृङ्गार रस का पूर्ण प्रस्फुटन एवं परिपाक होता है। विरहावस्था

में पूर्ण मानसिक मिलन रहता है, मिलन की इच्छा ज्यों ज्यों तीव्र होती जाती है, त्यों त्यों प्रेम की गहराई बढ़ती जाती है। प्रेम की इस तीव्रता के कारण प्रेमियों को कोई भी पृथक नहीं कर पाता। विरह वह नौका है, जिस पर बैठकर प्रेमी प्रेम-सागर में उठती हुई लहरों में झूला झूलते और अन्तरिक्ष तक फैले हुए प्रेम पयोधि का पूर्ण दर्शन करते हैं। विरहाग्नि में तपकर प्रेमी का स्वरूप निखर उठता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार अग्नि में तपने के बाद ही स्वर्ण की निकाई निखरती है। अग्नि परीक्षा के बाद ही तप्त कांचन वर्ण निखर पाता है, सुवर्ण और विरही दोनों का।"[१] अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, गुण कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, जड़ता, व्याधि और मरण, वियोग जनित दस अवस्थायें हैं जो वियोग शृंगार-काव्य की भूमिका उपस्थित करती हैं। कुछ विद्वान वियोग की दसवी अवस्था 'मरण' का चित्रण काव्य के लिये अनुचित बताते हैं और वियोग जनित अवस्थाओं की संख्या मरण को निकाल कर नौ ही मानते हैं।

शृंगार के साथ भक्ति भावना का अटूट सम्बन्ध रहने के कारण भी विप्रलम्भ शृंगार को सर्वाधिक महत्त्व मिला है। आत्मा और परमात्मा को एक मानने वाले तथा आत्मा को परमात्मा का अंश बताने वाले साधारण लोग माया अथवा जन्म के कारण उत्पन्न वियोग की वेदना में आत्मा को तड़पती हुई मानते हैं और यही कारण है कि प्रतीक रूप में रहस्यमयी कविताओं के माध्यम से लौकिक मानवीय वियोग जन्य प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है। "ज्यों ज्यों प्रेम का उत्कर्ष बढ़ता जाता है। त्यों-त्यों प्रेमी प्रेममय होता जाता है। आत्यन्तिक अवस्था में प्रेमी को विश्व में सर्वत्र अपना प्रेमपात्र ही दिखाई देने लगता है। ससार के कण कण में उसे प्रेमपात्र की झाँकी मिलती है और सर्वत्र उसकी छटा छिटकी हुई दिखाई देने लगती है। विश्व के कण-कण में जब प्रेमपात्र प्रतिभाषित होने लगता है, तब प्रेमी को समस्त विश्व ही प्रेममय प्रतीत होने लगता है।"[२] प्रेमी और प्रेमिका का साधारण प्रेम ही अपनी चरमावस्था में विश्व व्याप्त होकर लौकिक से अलौकिक बन जाता है। ऐसी स्थिति में हम उसे चाहे सूफियों की 'साधना' कह लें अथवा 'इश्क मज़ाजी को' इश्क हकीकी की ओर बढ़ता हुआ मान लें या आत्मा को परमात्मा यानी ब्रह्मोन्मुख स्वीकार करें, पर यह जो कुछ भी हो अभाव जन्य प्रेम की— तीव्रतम अनुभूति अवश्य है। ऐसे कविगण जो समाज के भय से स्थूल लौकिक शृंगार के वर्णन में थोड़ा हिचकते हैं, किन्तु शृंगार वर्णन करना चाहते हैं उनके लिये विप्रलम्भ शृंगार ने अलौकिक तत्त्व से सम्बद्ध होने के कारण कार्य अत्यन्त सुगम कर दिया है। इन्हीं कतिपय विशेषताओं के कारण विप्रलम्भ अथवा वियोग शृंगार ने हिंन्दी मुक्तककारों पर अपना एक छत्र राज्य स्थापित किया है।

कविवर सूरदास का 'सूर सागर' विप्रलम्भ शृंगार की कविताओं का अक्षय निधि है। उनका 'भ्रमर गीत' प्रसंग तों वियोग शृंगार की चरम परिणति ही है। यद्यपि सूरदास के पदों में शृङ्गार और प्रेम के विविध पक्षों का वर्णन हुआ है किन्तु विप्रलम्भ शृङ्गार वर्णन में उनका मन सबसे अधिक लगा है और प्रेम तो उनकी सम्पूर्ण रचनाओं का केन्द्र बिन्दु

१—रीति कालीन कविता एव शृंगार रस की विवेचना—राजेन्द्रप्रसाद चतुर्वेदी, ३९।

२—रीति कालीन कविता एवं शृगार रस की विवेचना—राजेन्द्र प्रसाद चतुर्वेदी, ४८।

है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार "लीलागानों में भी सूर का प्रिय विषय था— प्रेम। माता का प्रेम, पुत्र का प्रेम, गोप-गोपियों का प्रेम, पति और पत्नी का प्रेम—इन सब बातों से ही सूर-सागर भरा है। सूरदास के प्रेम में उस प्रकार के प्रेम की गन्ध भी नहीं है जो प्रिय की संयोगावस्था में उसकी विरहाशंका से उत्कंठित और वियोगावस्था में मिलन-लालसा से भरा रहता है। यशोदा कभी उस माता की तरह साश्रु-नयनों से देवताओं की ओर नहीं ताकतीं जो सदा आँचल पसार कर वर माँगा करती हैं कि हे भगवान् जिसे पाया है, वह खो न जाय। उसी प्रकार राधिका ने कृष्ण के व्रजवास के समय कभी भी मान और अभिमान के समय भी कातर नयनों से नहीं देखा। सूरदास का प्रेम संयोग के समय सोलह आना संयोगमय है और वियोग के समय सोलह आना वियोगमय है क्योंकि उनका हृदय बालक का था जो अपने प्रिय के क्षणिक वियोग में भी अधीर हो जाता है और क्षणिक सम्मिलन में ही सब कुछ भूल कर किलकारियाँ मारने लगता है।"[1] सूर की गोपियों को विरह से तो एक प्रकार का प्रेम ही हो गया है जिससे छुटकारा पाना उनके लिये अत्यन्त कठिन हो गया है—

> ऊधौ विरहौ प्रेम करै,
> ज्यों बिन पुट पट गहे नरंगहि पुट गहि रसहि परै।
> जो आवों घट दहत अनल तनु तौ पुनि अमिय भरै॥"
>
> —भ्रमर गीतसार।

भ्रमर गीत प्रसंग में सूर के विप्रलम्भ श्रृङ्गार का बड़ा ही सजीव चित्र डा० हजारी प्रसाद जी द्विवेदी ने अपनी पुस्तक में प्रस्तुत किया है।[2] 'राजरानी मीरा' प्राणपिया के वियोग में (यद्यपि उनका प्राणपिय ब्रह्म है) प्राण धारण करना भी कठिन समझ रही है—

> आली मेरे नैना बान पड़ी,
> चित चढ़ी मेरे माधुरी मूरति उर बिच आन अड़ी
> कब की ठाड़ी पन्थ निहारूँ अपने भवन खड़ी
> कैसे प्राण पिया बिनु राखूँ जीवन मूल पड़ी॥
>
> —मीरा।

आचार्य 'केशव' प्रिय के वियोग में प्राणों का उत्सर्ग ही प्रेम की सच्ची कसौटी मानते हैं—

१—हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १०२।

२—प्रेम के इस साफ और मार्जित रूप का चित्रण भारतीय साहित्य में किसी और कवि ने नहीं किया। यह सूरदास की अपनी विशेषता है। वियोग के समय राधिका का जो चित्र सूरदास ने चित्रित किया है वह भी इस प्रेम के योग्य ही है। श्याम सुन्दर के मिलन समय की मुखरा लीलावती, चचला और हँसोड़ा राधिका वियोग के समय मौन शांत और गम्भीर हो जाती है। उद्धव से अन्यान्य गोपियाँ काफी बकझक करती हैं, पर राधिका वहाँ जाती भी नहीं। उद्धव ने कृष्ण से उनकी जिस मूर्ति का वर्णन किया है उससे पत्थर भी पिघल सकता है। उन्होंने राधिका की आँखों को निरन्तर बहते देखा था, कपोल देश वारि धारा से आर्द्र था, मुख-मण्डल पीत हो गया था, आँखें धँस गई थीं, शरीर में कंकाल शेष रह गया था। वे दरवाजे से आगे न बढ़ सकी थीं। प्रिय के प्रिय वयस्य ने जब सन्देश माँगा तो वे मूर्छित होकर गिर पड़ीं।

जिन बोल सुबोल अमोल सबै अंग केलि कलोलन मोल लिये ।
जिनको चित लालची लोचन रूप अनूप पियूप सु पीय जिये ॥
जिनके पद 'केशव' पानि हिये सुख मानि सबै दुख दूर किये ।
तिनको संग छूटत ही फिहरे फटि कोटिक टूट भयौ न हिये ॥
—केशवदास ।

प्रेम-पत्रो का आना जाना भी छूट गया है। पहले जो दूर दूर से देखा-देखी हो जाती थी, वह भी सम्भव नही हो पा रहा है। जितने माध्यम थे वे भी समाप्त हो गये हैं। सकोच के कारण सन्देश भेजना भी छूट गया है, क्योकि 'सेनापति' की नायिका को लोक लाज और दुष्ट जनो का भय लगा हुआ है। किंतु उसके हृदय में नायक के प्रति जो प्रीति लग गई है वह नही छूट पा रही है, जिससे वह वियोग की कठिन यातना को सहन कर रही है—

छूट्यो ऐबौ जैबौ प्रेम पाती कौ पठैबौ छूट्यो
छूट्यो दूरि दूरि हूते देखिबो दगन तें।
जेते मधियाती सब तिन सो मिलाप छूट्यौ
कहिबो संदेसहू को छूट्यो सकुचन तें।
एती सब बातें 'सेनापति' लोकलाज काज
दुरजन त्रास छूटीं जतन जतन तें।
डर और रही, चित चुभि रही देखौ एक
प्रीति की लगन क्यों हू छूटति न मन ते ॥
: सेनापति :

संयोग काल के सभी सुखद उद्दीपन वियोग काल में दुखदाई हो जाते हैं। प्रिय के परदेश गमन की बात आंगन में सखियों के बीच बैठी नायिका ने सुनी, फिर क्या था उसके शरीर का सारा प्रभाव ही बदल गया। वियोग की ऐसी आग भड़की कि जिसे छू कर जो वायु मानसरोवर पर पहुँचा तो वहाँ हाहाकार मच गया—

"बैठी है सखिन संग पिय को गमन सुन्यो
सुख के समूह में वियोग आग भरकी,
'गंग' कहैं त्रिविध सुगन्ध लै बह्यौ समीर
लागतहीं ताके तन भई व्यथा ज्वर की।
प्यारी को परसि पौन गयौ मानसर पै सु
लागतहीं औरै गति भई मानसर की,
जलचर जरे औ सेवार जरि छार भई
जल जरि गयो पंक सूक्यौ भूमि दरकी ॥"
: महा कवि गंग :

बिहारी की नायिका का क्या पूछना है ? वह स्वयं जली जा रही है तथा विरहाग्नि को शान्त करने वाले साधनों को भी अपने विरह ताप से जला दे रही है और शान्ति तथा शीतलता प्रदान करने वाले तत्त्वों का प्रभाव उसके ऊपर ठीक उलटा पड़ रहा है—

आड़े दै आलै बसन, जाड़े हू की राति।
साहस कै कै नेह बस, सखी सबै ढिग जाति॥

× × ×

औंधाई सीसी सुलखि, विरह बरति बिल्लात।
बीचहि सूख गुलाब गौ, छींटौ छुई न जात॥

× × ×

हौं ही बौरी बिरह बस, कै बौरो सब गाम।
कहा जानि ये कहत हैं, ससिहि सीतकर नाम॥

: बिहारी :

'श्याम' की तनिक मुस्कान ने तो महाकवि 'मतिराम' की नायिका 'राधा' पर गजब ढा दिया है, जिसके अभाव में उसकी अवस्था अत्यन्त शोचनीय हो गई है—

सूँघै न सुबास, रहै राग रंग ते उदास,
भूलि गई सुरति सकल खान-पान की;
कवि 'मतिराम' इक टक अनिमिष नैन,
बूझै न कहति बात समुझै न आन की।
थोरी सी हँसनि मैं ठगौरी तैंने डारी स्याम,
बौरी कीनी गोरी तैं किसोरी वृषभान की;
तब तैं बिहारी ! वह भई है पखान की-सी,
जब तै निहारी रुचि मोर के पखान की॥

: मतिराम :

इसी प्रकार महाकवि देव और पद्माकर के सुन्दर विप्रलम्भ शृंगार वर्णनों को भी देख सकते हैं—

झहरि झहरि झीनी बूँद हैं परत मानो,
घहरि घहरि घटा घेरी है गगन में।
आनि कह्यो स्याम मोसौं, चलौ झूलिबे को आज,
फूली ना समानी भई ऐसी हौं मगन मैं॥
चाहत उठ्योई उठि गई सो निगोड़ी नींद,
सोय गये भाग मेरे जागि वा जगन में।
आँख खोलि देखौं तौ न घन हैं, न घनस्याम,
वे छाई बूँदैं मेरे आँसू ह्वै दृगन में॥

: देव :

× × ×

दूर ही तें देखत बिथा मैं वा वियोगिनि की,
आई भले भाजि ह्याँ इलाज मढ़ि आवैगी;
कहैं 'पद्माकर' सुनो हो घनस्याम जाहि,
चेतत कहूँ जो एक आहि कढ़ि आवैगी।
सर सरितान को न सूखत लगैगी देर,
एती कछु जुलुमिन ज्वाला बढ़ि आवैगी;
ताके तन ताप की कहौं मैं कहा बात मेरे,
गात ही छुवैतें तन ताप चढ़ि आवेगी॥

: पद्माकर :

वीररस प्रधान गर्वोक्तियाँ

दरबारी काव्य का मूल स्वर श्रृङ्गारिक तो रहा किन्तु वीररस पूर्ण गर्वोक्तियों की ओर भी इस काल में कुछ कवियों का आग्रह बना रहा। राजस्थान के राजपूतों का एक प्रकार से युद्ध व्यवसाय और तलवार ही उनकी सम्पत्ति थी। पराधीनावस्था में भी उनके रक्त में कायरता और ठण्डक नहीं आ पायी थी, जिससे उस क्षेत्र को आधार मान कर सुन्दर गर्वोक्तियाँ इस दरबारी सभ्यता में भी लिखी जा रही थी। हम देखते हैं कि घोर श्रृङ्गार काल में भी भूषण ऐसे वीररस प्रधान महाकवि को जन्म देने का हिन्दी मध्य काल को गर्व है। प्रबन्ध काव्यों के अन्तर्गत रासो काल से ही वीर गाथाओं को काव्य का रूप प्रदान करने की प्रथा चली आ रही थी जो बाद में दब अवश्य गई किन्तु पूर्णतः समाप्त नहीं हो पाई थी। कवि 'पृथ्वी राज' जो सम्राट अकबर के शासन काल में उपस्थित थे, इस दरबारी सभ्यता में लिखे जाने वाले वीर 'रस प्रधान मुक्तकों के अग्रदूत थे। इन्होंने वीररस पूर्ण रचनायें की हैं। इतिहासकार 'कर्नल टाड' ने पृथ्वीराज की कविताओं में दस हजार घोड़ों का बल बतलाया है जो अक्षरशः ठीक है। उन्होंने अपनी एक रचना में यह भाव प्रकट किया है कि अकबर अपने बल को पूर्णतः जानता है तो भी जोश से अपने पक्ष को खींचता है। पर दुश्मन को खा जाने वाली यह आफत, प्रताप सिंह दूसरी ही (चीज) है।

"जाणै अकबर जोर तोपिण ताणै तोर तिड़।
आ बलाय है और पिसणां षोर प्रताप सी॥

: पृथ्वीराज :

उन्होंने अपनी एक दूसरी कविता में यह भाव प्रकट किया है कि पुत्र माता से निवेदन करता है कि "हे माता! ऐसे पुत्र को जन्म दे जैसा राणाप्रताप है, जिसको अकबर सिरहाने का साँप समझ कर सोता हुआ चौंक पड़ता है!"

"माई एहड़ा पूत जण, जेहड़ा राणा प्रताप।
अकबर सूतो ओझकै, जाण सिराणै साँप॥"

: पृथ्वीराज :

इसी प्रकार एक दोहे में उन्होंने अथाह समुद्र का रूपक बाँधा है। "वीरता रूपी जल से भरा अकबर अथाह समुद्र है, परन्तु मेवाड़ का राणा प्रताप उसमें कमल के फूल के समान है। अर्थात् जिस तरह कमल पर जल का कोई प्रभाव नहीं पड़ता उसी प्रकार प्रताप पर अकबर की वीरता का कोई प्रभाव नहीं पड़ता!"

"अकबर समद अथाह, सूरापण भरियो सजल।
मेवाड़ो तिण माँह, दोयण, फूल प्रताप सी॥"

: पृथ्वीराज :

'पृथ्वीराज' की भाँति ही 'दुरासा' जी की भी कवितायें वीरता तथा देश प्रेम से ओतप्रोत है। अन्य हिन्दू राजाओं का अकबर की आधीनता स्वीकार कर लेना कवि 'दुरासा' जी के हृदय को अत्यन्त छू गया है। उनकी उक्ति की "सुख-भोग के लिए अन्य हिन्दू राजा गीदड़ों की भाँति अकबर के आधीन हो गये, पर क्रोधी सिंह की भाँति राणाप्रताप ही उसकी आधीनता स्वीकार नही करता।"

"सुर्षहित स्याल समाज, हिन्दू अकबर बस हुवा।
रोसो ली मृग राज, पजै न राग प्रताप सी॥
: दुरासा जी :

बाँकी दास की भी गर्वोक्तियाँ उसी श्रेणी में आती हैं जिसमें पृथ्वीराज और दुरासा जी की। रामपुरे का चन्द्रावत राव दुर्गादास पहले मेवाड़ के महाराणा का विश्वासपात्र था और बाद में जाकर वह अकबर से मिल गया। जिस पर जयमल' और 'पत्ता' कहते हैं कि "हे दुर्गा! तू अटल होकर रह, कायर रूपी मैल के निकल जाने से स्वर्ण-दुर्ग की ज्योति बढ़ गई है!"

"प्रगट कहैं जैमल-पतो, अचल अचल कर अंग।
कायर रेहण कढ़ कार्यों, दीपै कनक दुरंग॥
: बाँकीदास जी :

कविराज सूर्य्य मल ने 'बीर सतसई' नामक एक अपूर्ण दोहों का सुन्दर संग्रह छोड़ रखा है। ये महाराज कवियो का बड़ा आदर करते थे और स्वयं भी सुन्दर रचनायें करते थे। बंशभास्कर नामक ग्रन्थ की भी उन्होंने रचना की है। 'वीर सतसई' उनकी बड़ी ही सुन्दर अतिशयोक्ति पूर्ण रचना है। उपमा और रूपकों का भी यथोचित प्रयोग उन्होंने बढ़ी ही कुशलता से किया है। राजपूतानियों ने इतिहास में असम्भव को भी सम्भव कर दिखलाया है। सती होती हुई एक वीरागना कहती है कि "हे सखी! पति के जीवित रहते शत्रुओं ने कभी चैन नहीं पाया और अब जलते समय मैने इन्हें गोद में ले रखा है, तो भी इनकी मूँछ नहीं मुड़ रही है। अर्थात् इस दशा में भी ये शत्रुओं को दुःखी कर रहे हैं।"

"सखी न की धव जीवता, अरियाँ पायौ चैन।
बलताँ लीधो गोद में, तौ भी मूँछ मुड़ै न॥
: बीर सतसई :

इसी प्रकार एक कवि का कथन है कि "हे सखी! मैं तुझे एक आश्चर्य की बात बताती हूँ, वे (मेरे पति) घर में तो (मेरी) भुजाओ में समा जाते हैं, परन्तु युद्ध का शोर सुनते ही वे मरण-प्रेमी इतने फूलते हैं कि कवच में भी नही समाते।"

"हूँ हेली अचरज कहूँ, घर में बाथ समाय।
हाकौ सणतां हूलसै, मरणौ कौच न माह्य॥
: बीर सतसई :

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि अलंकरण की प्रवृत्ति केवल शृंगारी मुक्तकों तथा लक्षण ग्रन्थों में उद्धृत कविताओं में ही नहीं बल्कि अन्य स्वच्छन्द मुक्तकों में भी पाई जाती है।

परिशिष्ट

परिशिष्ट

दरबारी संस्कृति के प्रभाव में रचना करने वाले हिन्दी के मुक्तककारों की कृतियों का ऐतिहासिक विकास क्रम जानने के लिये, यह अत्यन्त आवश्यक था, कि उनकी कतिपय चुनी-चुनाई कविताओं को उदाहरण स्वरूप दे दिया जाय। कविताओं का वर्गीकरण मैंने मुक्तकों के विभिन्न प्रकारों के आधार पर किया है और यह ध्यान रखा है, कि जहाँ तक हो सके प्रतिनिधि रचनाओं को ही स्थान मिले।

वीर रसात्मक मुक्तक :

१—धर बाँकी दिन पाधरा, मरद न मूकै माण।
धणां नरिंदां घेरियो, रहे गिरंदां राण ॥ १ ॥
माई एहड़ा पूत जण, जेहड़ा राण प्रताप।
अकबर सूतो ओझकै, जाण सिराणैं साँप ॥ २ ॥
अकबर समद अथाह, सूरापण भरियो सजल।
मेवाड़ो तिण माँह, पायेण फूल प्रताप सी ॥ ३ ॥
पातल पाध प्रमाण, साँची साँगाहर तणी।
रही सदा लग राण, अकबर सूँ ऊभी अणी ॥ ४ ॥

: पृथ्वीराज :

२—अकबर गरब न आँण, हींदू सह चाकर हवा।
दीठो कोई दीवाण, करतो लटका कटहड़ै ॥ १ ॥
अकबर कीना आद, हींदू नृप हाजर हुवा।
मेद पाट मरजाद, पग लागो न प्रताप सी ॥ २ ॥
कदे न नामै कंध, अकबर ढिग आवै न ओ।
सूरज बंस संबंध, पालै राण प्रताप सी ॥ ३ ॥
अकबर पथर अनेक, कै भूपत भेला किया।
हाथ न लागो हेक, पारस राण प्रताप सी ॥ ४ ॥

: दुरसाजी :

३—सूर न पूछै टीपणौ, सकुन न देखै सूर।
मरणां नूं मंगल गिणै, समर चढ़ै मुख नूर ॥ १ ॥
कायर घर आवण करै, पूछै ग्रह दुज पास।
सरग बास खारौ गिणै, सब दिन प्यारौ सास ॥ २ ॥
सूरातन सूरॉ चढ़ै, सत सतियॉ सम दोय।
आड़ी धारां ऊतरै, गणै अनल नूँ तोय ॥ ३ ॥
जाया राजपूतांणियाँ, वीरत दीधी वेह।
प्रांण दियै पांणी पुणग, जावान दिये जेह ॥ ४ ॥

४—दारा कीन दौर यह, रार नहीं खुजवे की,
बाँधिबो नहीं है कैधों मीर सहवाल को।
मठ विश्वनाथ को, न बास ग्राम गोकुल को,
देवी को न देहरा, न मंदिर गोपाल को॥
गाढ़े गढ़ लीन्हें अरु बैरी कतलाम कीन्हें,
ठौर ठौर हासिल उगाहत है साल को।
बूड़ति है दिल्ली सो सँभारै क्यों न दिल्लीपत,
धक्का आनि लग्यो सिवराज महाकाल को॥
: भूषण :

नीतिपरक मुक्तक :

१—रहिमन वे नर मर चुके, जे कहुँ माँगन जाहिं।
उनते पहिले वे मुंए, जिन मुख निकसत "नाहिं"॥ १॥
रहिमन रहिला की भली, जौ परसै चितलाय।
परसत मन मैला करै, सो मैदा जरि जाय॥ २॥
दुरदिन परे रहीम कह, भूलत सब पहिचानि।
सोच नहीं वित-हानि की, जौ न होय हित-हानि॥ ३॥
ज्यों रहीम गति दीप की, कुल कपूत गति सोय।
बारे उजियारो लगै, बढ़े अँधेरो होय॥ ४॥
: अब्दुर्रहीम खान खाना :

२—ऊँची जाति पपीहरा पियत न नीचो नीर।
कै जाँचै घन स्याम सों, कै दुख सहै सरीर॥ १॥
चढ़त न चातक चित कबहुँ, प्रिय पयोधि के दोख।
याते प्रेम पयोधि बर, तुलसी जोग न रोख॥ २॥
होय अधीन जाँचै नहीं, सीस नाय नहिं लेइ।
ऐसे मानी मागनहिं, को बारिद बिनु देइ॥ ३॥
मान राखिबो भागिबो, पिय सों सहज सनेहु।
तुलसी तीनो तब फबै, जब चातक मति लेहु॥ ४॥
: तुलसीदास :

३—बहुत द्रव्य संचै जहाँ, चोर राज भय होय।
काँसे ऊपर बीजुरी, परति कहैं सब कोय॥ १॥
विद्या बिनु न बिराजहिं, जदपि सरूप कुलीन।
ज्यों सोभा पावै नहीं, टेसू बास विहीन॥ २॥
एकहि भले सुपुत्र तैं, सब कुल भलो कहाय।
सरस सुवासित वृक्ष तैं, ज्यों बन सकल बसाय॥ ३॥
छमा खड्ग लीने रहै, खल को कहा बसाय।
अगिन परी तृन रहित तल आपहिं तैं बुझि जाय॥ ४॥
: वृन्द :

४—साईं बेटा बाप के बिगरे भयो अकाज।
हरिनाकुस अरु कंस को गयो दुहुन को राज ॥
गयो दुहुन को राज बाप बेटा के बिगरे।
दुसमन दावागीर भए महिमंडल सिगरे ॥
कह गिरधर कविराय जुगुन याही चलि आई।
पिता पुत्र के बैर नफा कहु कौने पाई! ॥ १ ॥
रहिए लटपट काटिदिन बरु घामहिं में सोय।
छाँहन वाकी बैठिए जो तरु पतरो होय ॥
जो तरु पतरो होय एक दिन धोखा दैहैं।
जा दिन बहै बयार टूटि जब जर से जैहैं ॥
कह गिरधर कविराय छाँह मोटे की गहिए।
पाता सब झर जाय तऊ छाया में रहिए ॥ २ ॥

: गिरिधर कविराय :

५—बरखै कहा पयोद इत मानि मोद मन माँहि।
यह तो ऊसर भूमि है अंकुर जमि है नाहि ॥
अंकुर जमि है नाँहि बरस सत जौ जल दैहैं।
गरजै तरजै कहा! वृथा तेरो श्रम जैहै ॥
बरनै दीन दयाल न ठौर कुठौरहि परखै।
जाहक गाहक बिना बलाहक! ह्यॉं तू बरखै ॥ १ ॥
चल चकई तेंहि सर बिसै जँह नहिं रैन बिछोह।
रहत एक रस दिवस ही सुहृद हंस सदोह ॥
सुहृद हंस संदोह कोह अरु द्रोह न जाको।
भोगत सुख अंबोह मोह दुःख होय न ताको ॥
बरनै दीनदयाल भाग बिन जाइ न सकई।
पिय मिलाप नित रहै ताहि सर तूँ चल चकई ॥ २ ॥

: दीनदयाल गिरी :

गीति—

१—कुंज भवन सँय निकसलि रे।
रोकल गिरधारी ॥
एकहिं नगर बसि माधव रे।
जनि कर बटमारी ॥
छाँड़ु कन्हैया मोह आँचर रे।
फाटत नव सारी ॥
अपजस होएत जगत भरि रे।
जनि करिअ उघारी ॥

संग क सखी अगुआइल रे।
हम एकसरि नारी ॥
दामिनि आए तुलाइल रे।
एक राति अँधियारी ॥

: विद्या पति :

२—उपमा नैन न एक रही,
कविजन कहत कहत सब आए सुधिकर नाहिं कही।
कहि चकोर बिधु मुख बिनु जीवत भ्रमर नाहिं उड़िजात ॥
हरि मुख कमल-कोष बिछुरे तै टाले कत ठहरात।
ऊधो बधिक व्याध ह्वै आये मृग सम क्यो न पलात ॥ १ ॥

माधौ जू यह मेरी इक गाइ।
अब आज तैं आप आगैं दई लै आइये चराइ ॥
यह अति हरहाई, हटकत हू बहुत अमारग जाति।
फिरत बेद-बन-ऊख उखारति सब दिन अरुस बराति ॥
हित करि मिलै लेहु गोकुल पति अपने गोधन माँह।
सुख सोऊँ सुनि बचन तुम्हारे देहु कृपा करि बाँह ॥
निधरक रहौं सूर के स्वामी जनि मन जौनो फेरि।
मन-ममता रुचि सौं रख बारी पहिले लेहु निबेरि ॥ २ ॥

: सूरदास :

३—नाहिन आवत आन भरोसो।
यहि कलिकाल सकल साधन तरु है स्रम फलनि फरोसो ॥
तप तीरथ उपवास दान मख जेहि जो रुचि करौ सो।
पाए पै जानिबो करम फल भरि भरि बेद परोसो ॥
आगम बिधि जप जोग करत नर सरत न काज खरोसो।
सुख सपनेहु न जोग सिधि साधन रोग बियोग धरोसो ॥
काम क्रोध मद लोभ मोह मिलि ग्यान बिराग सरोसो।
बिगरत मन सन्यास लेत जल नावत आम घरोसो ॥
बहुमत सुन बहुपंथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहि लागत राजडगरो सो ॥
तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि फिरि पचि मार मरोसो।
राम नाम बोहित भव सागर चाहत तरन तरोसो ॥

: तुलसीदास :

४—सखी मेरी नींद नसानी हो।
पिय को पंथ निहारते सब रैणि बिहानी हो॥
सब सखियन मिलि सीखि दई मन एक न मानी हो।
बिन देखी कल नाहि परत जिय ऐसी ठानी हो॥
अंग अंग व्याकुल भई मुख पिय पिय बानी हो।
अंतर बेदन बिरह की, वह पीड़ न जानी हो॥
ज्यूँ चातक घन कूँ रटै मछुरी जिमि पानी हो।
मीरा व्याकुल बिरहिणी सुधि बुधि बिसरानी हो॥
: मीरा :

प्रबंध-मुक्तक:

१—सुनौ स्याम! यह बात और कोउ क्यों समझाय कहै।
दुहु दिसि की रति बिरह बिरहिनी कैसे कै जो सहै॥
जब राधे, तब ही मुख 'माधौ माधौ' रटति रहै।
जब माधौ ह्वै जाति, सकल तनु राधा-बिरह दहै॥
उभय अग्र दव दारुकीट ज्यों सीतलताहि चहै।
सूरदास अति बिकल बिरहिनी कैसेहु सुख न लहै॥
: सूरदास :

२—जौ हौं मातुमते महँ ह्वै हौं।
तौ जननो जग में या मुख को कहाँ कालिमा ध्वैहौं?
क्यों हौं आजु होत सुचि सपथनि, कौन मानिहैं साँची?
महिमा-मृगी कौन सुकृती की खल-बच-विसिषन्ह बाँची?॥ १॥
बिलोंके दूरि ते दोउ बीर
मन अगहुँड़, तन पुलक सिथिल भयो, नयन-नलिन भरे नीर।
गड़त गोड़ मनो सकुच पंक महँ, कढ़त प्रेमबल धीर॥ २॥
: तुलसीदास :

३—कहन स्याम-संदेस एक मैं तुम पै आयो।
कहन समय संकेत कहूँ अवसर नहिं पायो॥
सोचत ही मन में रह्यो, कब पाऊँ इक ठाऊँ।
कहि संदेस नँदलाल को, बहुरि मधुपुरी जाऊँ॥
सुनौ ब्रजनागरी।

जौं उनके गुन होय, बेद क्यों नेति बखानै।
निरगुन सगुन आतमा-रुचि ऊपर सुख सानै॥
वेद पुराननि खोझि कै पायो कतहुँ न एक।
गुन ही के गुन होहि तुम, कहो अकासहि टेक॥
सुनौ ब्रजनागरी।
: नन्ददास :

स्वतन्त्र गेय मुक्तक :

१—अनुखन माधव माधव सुमरइत
सुन्दरि भेलि मधाई
ओ निज भाव सुभावह बिसरल
अपने गुन सुबुधाई
माधव अपरुप तोहर सनेह
अपने विरह अपन तन जरजर
जीवइति भले संदेह
भोरहि सहचारी कातर दिठिहेरि
छलछल लोचन पानि
अनुखन राधा राधा रटइत
आधा आधा बानि
राधा सन जब पुनतहि माधव
माधव सयँ जब राधा
दारुन प्रेम तबहिं नहि टूटत
बाढ़त विरहक बाधा
दुहु दिसि दारुदहन जैसे दगधई
आकुल कीट परान
ऐसन वल्लभ हेरि सुधामुखि
कवि विद्यापति भान

: विद्यापति :

२—मोर पखा सिर ऊपर राखिहौं, गुंज की माल गरे पहिरौंगी।
ओढ़ि पीतांबर लै लकुटी बन, गोधन ग्वालन संग फिरौंगी॥
भावतो सोई मेरो रसखान सो तेरे कहे सब स्वांग करौंगी।
या मुरली मुरलीधर की अधरान-धरी अधरा न धरौंगी॥

: रसखान :

विशुद्ध मुक्तक—

१—मृगहूँ ते सरस विराजत विशाल दृग,
देखिये न अस दुति कोलहू के दल मैं।
गंग घन दुज से लसत तन आभूषन,
ठाढ़े द्रुम छाँह देख है गई विकल मैं॥
चख चित चाय भरे शोभा के समुद्र माहिं,
रही ना सँभार दसा और भई पल मैं।
मन मेरो गरुओ गयो री बूड़ि मैं न पायो,
नैन मेरे हरुये तिरत रूप जल मैं॥

: गंग :

२—देखी है गुपाल एक गोपिका अनूप रूप,
सोने तें सलोनी बास सोंधे तें सुहाई है।
सोभाई सुभाव अवतार लियो घनस्याम,
किधौं दामिनी के काम कामिनी ह्वै आई है॥
देवी कोऊ दानवी न, मानवी न होई ऐसी,
भानवी न हाव-भाव भारती पठाई है।
केसोदास सब सुख-साधन की सिद्धि जे,
मेरे जान मैंन ही सों मैनका की जाई है॥
: केशव दास :

३—जिन बोल सुबोल अमोल सबै, अँग केलि कलोलन मोल लिए।
जिनको चित लालची लोचन रूप, अनूप पियूष सु पीय जिए॥
जिनके पद 'केशव' पानि हिए, सुख मानि सबै दुख दूरि किए।
तिनकौ सँग फूटत ही फिट रे! फटि कोटिक टूक भयो न हिए॥
: केशव :

४—कान्ह की बाँकी चितौनि चुभी,
झुकि काल्हि ही झाँकी है ग्वालि गवाछनि।
देखी है नोखी सो चोखी सी कोरनि,
ओछे फिरै उभरै चित जा छनि॥
मार्‌यो सँभारि हिये में मुबारक,
ए सहजै कजरारे मृगाछनि।
सींक लै काजर दे री गवाँरिनि,
आँगुरी तेरी कटैगी कटाछनि॥
: मुबारक :

५—हमको तुम एक, अनेक तुम्हैं, उनही के विवेक बनाइब हौ।
इत चाह तिहारी बिहारी, उतै सरसाइ कै नेह सदा निबहौ॥
अब कीवौ 'मुबारक' सोई करौ, अनुराग-लता जिन बोई दहौ।
घनस्याम! सुखी रहौं आनँद सों, तुम नीके रहौ, उनही के रहौ॥
: मुबारक :

६—फूलन सो बाल की बनाय गुही बेनी लाल,
भाल दई बेंदी मृगमद की असित है।
भाँति-भाँति भूषन बनाये ब्रजभूषन
सुबीरी निज कर सो खवाई करि हित है॥
ह्वै कै रस-बस जब दीवे को महावर के,
'सेनापति' लाल गह्यो चरन ललित है।
चूमि हाथ नाह के, लगाइ रही आँखिन सो,
एहो प्रान नाथ! यह अति अनुचित है॥
: सेनापति :

७—कौनैं बिरमाये, कित छाये अजऊँ न आए,
कैसे सुधि पाऊँ प्यारे मदन गुपाल की ॥
लोचन जुगल मेरे ता दिन सफल ह्वै हैं,
जा दिन बदन-छवि देखौं नंदलाल की ॥
सेनापति जीवन अधार गिरिधर बिन,
और कौन हरै बलि बिथा मो बिहाल की ॥
इतनी कहत, आँसू बहत, फरकि उठी।
लहर लहर दृग बाँई ब्रज बाल की ॥
: सेनापति :

८—जामिनि कछू मन सोच-सँकोच न, आछिये सो तौ कछू लरिकाई।
आवत ही इन नैनन के रस मोहन के बस कौं ललचाई ॥
देखे बिना कल नेक नहीं, अरु देखै तौ गोकुल गाँम चबाई।
जामें हँसे हू कलंक लगै, जे कौन धौं बैस बिसासिनि आई ॥
: चिन्तामणि :

९—जामिनि कौ पहिलौ जब जाम, बितीत भयौ प्रिय गेह न आयौ।
लाजन बोलि सकै न सखीन सौं, बाम को काम-हियौ अकुलायौ ॥
यौं मन बीच विचार करै, उन कैहू न मोहिं वियोग दिखायौ।
जानति हौं न कहा गति है, मेरे प्रानन कौ पति कै बिलमायौ ॥
॥ चिन्तामणि ॥

१०—साथ सखी के नई दुलही कौं, भयो हरि को हियौ हेरी हिमंचल।
आइ गए 'मतिराम' तहाँ घर, जानि इकन्त अनन्द तें चंचल ॥
देखत ही नन्दलाल कौं, बाल के पूरि रहे अँसुवान दृगंचल।
बात कही न गई, सु रही गहि, हाथ दुहूँ सौं सहेली कौ अंचल ॥
: मतिराम :

११—आई है निपट साँझ, गैया गई घर माँझ,
ह्याँ ते दौरि आई, कहै मेरो काम कीजिए।
हौं तौ हौं अकेली और दूसरौ न देखियत,
बन की अँध्यारी सौं अधिक भय भीजिए ॥
कवि 'मतिराम' मनमोहन सौं पुनि-पुनि,
राधिका कहति बात साँची कै पतीजिए।
कब की हौं हेरति, न हेरैं हरि पावत हौं,
बछरा हिरान्यौ, सो हिराइ नैक दीजिए ॥

: मतिराम :

१२—रीझि रीझि रहसि रहसि हँसि हँसि उठै,
साँसैं भरि आँसू भरि कहत दई दई।
चौंकि चौंकि चकि चकि उचकि उचकि देव,
जकि जकि बकि बकि परत बई बई ॥
दुहुँन को रूप गुन दोऊ बरनत फिरैं
घर न थिराति रीति नेह की नई नई।
मोहि मोहि मन भयो मोहन को राधिका में
राधिका हूँ मोहि मोहि मोहनमयी भई ॥
: देव :

१३—नैंको सुहाति न, जाति गयी, उर पीर बढ़ी, गहि गाढ़ी गड़ी क्यों।
खैंची खयून खरी खरकै नहिं, नीठि खुलै खुभि डीठि धसी क्यों ॥
'देव' कहा कहौं तोसों जु मोसों तैं आज करी बिन काज हँसी क्यों।
गाँठिऐ तोरि तनी छिन छोरि दै, छातिऐ कंचुकी ऐंचि कसी क्यों ॥
: देव :

१४—कबहूँ मिलिबो कबहूँ मिलिबो
यह धीरज ही में धरैबो करैं।
उर ते कढ़ि आवै गरेते फिरै
मन की मनही में सिरैबो करै ॥
कवि बोधा न चाव सरै कबहूँ
नितहूँ हरबा से हरैबो करै।
सहतेइ बनै करते न बनै
मनही मन पीर पिरैबो करै ॥
: बोधा :

१५—कहिबे को बिथा सुनिबे को हँसी, को दया सुनि कै उर आनतु है।
अरु पीर घटै तजि धीर सखी ! दुख को नहीं कापै बखानतु है ॥
कवि बोधा कहे में सवाद कहा, को हमारी कही पुनि मानतु है।
हमैं पूरी लगी कै अधूरी लगी, यह जीव हमारोई जानतु है ॥
: बोधा :

१६—रोज न आइए जो मनमोहन, तौ यह नेक मतो सुनि लीजिए।
प्रान हमारे तुम्हारे अधीन, तुम्हैं बिन देखे सु कैसे क जीजिए ॥
'ठाकुर' लालन प्यारे सुनौ, बिनती इतनी वै अहो चित दीजिए।
दूसरें, तीसरें, पाँचएँ, सातएँ, आठएँ तौ भला आइबो कीजिए ॥
: ठाकुर :

१७—हम एक कुराह चली हौं चलीं, हटकौ इन्हें ए ना कुराह चलैं।
इहि तो बलि आपुनौ सूझती हैं, प्रन पालिए सोई, जो पाले पलैं ॥
कवि 'ठाकुर' प्रीति करी है गुपाल सो, टेरैं कहो सुनौ ऊँचे गलैं।
हमें नीकी लगी सु करी हमने, तुम्हे नीकी लगो न लगो तौ भलैं ॥
: ठाकुर :

१८—जा थल कीन्हे बिहार अनेकन ता थल बैठि कै काँकरी चुन्यौ करैं।
जा रसना ते करी बहु बातन, ता रसना सो चरित्र गुन्यौ करैं ॥
'आलम' जौन से कुंजन में करि केलि, तहाँ अब सीस धुन्यौ करैं।
नैनन में जे सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करैं ॥
: आलम :

१९—चन्द को चकोर देखै निसि दिन को न लेखै,
चन्द बिन दिन छबि लागत अँध्यारी है।
आलम कहत आली अलि फूल हेत चलै,
काँटे सी कँटीली बेलि ऐसी प्रीति प्यारी है ॥
कारो कान्ह कहति गँवारी ऐसी लागति है,
मोहिं वाकी स्यामताई लागत उँज्यारी है।
मन की अटक तहाँ रूप को विचार कहाँ,
रीझिबे को पैंडो तहाँ बूझ कछु न्यारी है ॥
: आलम :

२०—अंतर में बासी मैं प्रवासी कैसो अंतर है,
मेरी न सुनत दैया अपनीयौ ना कहौ।
लोचननि तारे है सुझाओ सब, सूझौ नहिं,
बूझी न परति ऐसी सोचनि कहा दहौ ॥
हौ तो जानराय जाने जाहु न, अजान याते,
आनन्द के घर छाय छाय उघरे रहौ।
मूरति मया की हहा! सूरत देखैये नेकु,
हमैं खोय या विधि ही! कौन धौं लहा लहौ ॥
: घनानन्द :

२१—राधे सुजान इतैं चित दै, हित में कित कीजत मान मरोर है।
माखन ते मन कोवरो है यह, बानि न जानत कैसे कठोर है ॥
साँवरे सों मिलि सोहत जैसी, कहा कहिये कहिबे कों न जोर है।
तेरौ पपीहा जु है घनआनन्द, है ब्रजचन्द, पै तेरौ चकोर है ॥
: घनानन्द :

२२—हाल्हई गूँथि बबा कीसौं मैं, गजमोतिन की पहिरी अति माला।
आई कहाँ ते इहाँ पुखराज की, सग गई यमुना तट बाला ॥
न्हात उतारी हौं 'बेनी प्रवीन', हँसै सुनि बैनन नैन रसाला।
जानति ना अँग की बदली, सब सों बदली-बदली कहै माला ॥

: बेनी प्रवीन :

२३—बैठी यह सोच करि, सुन्दरि सँकोच भरि,
कैसे के बिलोकौं हरि, करौं कौन छल-छन्द।
दूबरी भई है देह, कल न परत गेह,
सहितै सनेह तौलौं बोली यों जेठानी-नँद ॥
आज दधि बेचन तू जाई नँद गाम मधि,
सुनत 'प्रवीन बेनी' उमग्यो अनन्द-कन्द।
कसि आई कंचुकी, उकसि आये दोउ कुच,
गसि आई बहियाँ, सुफसि आये भुज-बन्द ॥

: बेनी प्रवीन :

२४—आई संग आलिन के ननद पठाई नीठि,
सोहत सोहाई सीस चूँडरी सुपट की।
कहै पदमाकर गँभीर जमुना के तीर,
लागी घट भरन नवेली नेह अटकीं ॥
ताही समय मोहन बाँसुरी बजाई तामें,
मधुर मलार गाई और बंसीबट की।
तान लागे लटकी; रही न सुधि घूँघट की,
घर की न, घाट की न, बाट की न घट की ॥

: पद्माकर :

२५—एहो नन्दलाल ऐसी ब्याकुल परी है बाल,
हाल ही चसौ तो चलौ, जोरे जुरि जायगी।
कहै पदमाकर नहीं तौं ये झकोरे लागे,
औरे लो अचाका बिनु घोरे घुरि जायगी ॥
सीरे उपचारन घनेरे घनसारन सों,
देखत ही देखौ दामिनी लौं दुरि जायगी।
तौही लगि चैन जौ लौं चेतिहै न चन्दमुखी,
चेतैगी कहूँ तो चाँदनी में चुरि जायगी ॥

: पद्माकर :

कोष मुक्तक—

१—स्वामी होतो सहज है दुरलभ होनो दास।
गाडर लायो ऊन को लाग्यो चरन कपास ॥ क ॥
बरखत हरखत लोग सब, करखत लखै न कोय।
तुलसी भूपति भानु सम, प्रजा भाग बस होय ॥ ख ॥
नीति प्रीति जस अजस गति, सब कहँ सुभ पहिचानि।
बस्ती हस्ती हस्तिनी, देति न पति रति दानि ॥ ग ॥
बैर-मूल-हर हित-बचन, प्रेम मूल उपकार।
'दोहा' सरस-सनेह मय, तुलसी किये विचार ॥ घ ॥
: तुलसी सतसई :

२—तन्त्री नाद कवित्त रस, सरस राग रति रंग।
अनबूड़े बूड़े तिरे, जे बूड़े सब अंग ॥ क ॥
अनियारे दीरघ नयन, कितनि तरुनि समान।
वहु चितवनि औरै कछू, जिहि बस होत सुजान ॥ ख ॥
दीप उजेरेहू पतिहि, हरत बसन रति काज।
रही लपट छबि की छटनि, नैकौ छुटी न लाज ॥ ग ॥
इन दुखिया अँखियान कौं, सुख सिरज्योई नाहिं।
देखै बनै न देखतैं, अनदेखैं अकुलाहिं ॥ घ ॥
: बिहारी सतसई :

३—मो मन-तम-तोमहिं हरौ, राधा के मुख-चन्द।
बढ़ै जाहि लखि सिन्धु लौं, नँद-नन्दन आनन्द ॥ क ॥
सुधा-मधुर तेरौ अधर, सुन्दर सुमनु-सुगंधु।
पीव-जीव कौ बंधु यह, बंध जीव कौ बंधु ॥ ख ॥
जलदस्याम निज नाम यह, करत कहा इत आपु।
जा उर नैकु बसौ करौ, ताही कै तनुतापु ॥ ग ॥
फिरि-फिरि आवति जात चलि, अँगरानी मुसुक्याति।
बाल लाल कौ ललित मुख, लखि लजात-ललचाति ॥ घ ॥
: मतिराम सतसई :

४—मन गयंद छवि मद-छके, तोरि जंजीर भगात।
हिय के झीने तार सो, सहजै ही बँधि जात ॥ क ॥
रूप-नगर दृग-जोगिया; फिरत सुफेरी देत।
छवि-कन पावत है जहाँ, पल-झोरी भरि लेत ॥ ख ॥
दृग-दुस्सासन लाल के ज्यौं-ज्यौं खैंचत जात।
त्यौं त्यौं द्रौपदि-चीर लौं, मन-पट बाढ़त जात ॥ ग ॥
जब जब निकसत भावतौ, रसनिधि इहि मग आइ।
नेह अतर लै दीठि कर, लोचन देत लगाइ ॥ घ ॥
: रसनिधि-सतसई :

५—लखि नवला की बर प्रभा, नहिं चपला ठहराय।
फाटत ही करहाट को, हाटक हाट बिकाय ॥ क ॥
कामुक अंधियारी गली, हरख्यो कामिनि हेरि।
आलिंगन करतहिं अली, आये बारिद घेरि ॥ ख ॥
ससि लखि जगत विदित कहो, जाय कमल कुँभिलाय।
यह ससि कुँभिलानो अहो, कमलहिं लखि किहि भाय ॥ ग ॥
नैन तिहारे नैन मै, मैं न कहों कहै मैन।
उतरत हैराते भये, इत आते समुहैं न ॥ घ ॥

: राम-सतसई :

६—हित हूँ की कहियै न तिहिं, जो नर होय अबोध।
ज्यौं नकटे कौं आरसी, होत दिखाये क्रोध ॥ क ॥
ऊँचे बैठे ना उहैं, गुन बिन बड़पन कोय।
बैठे देवल सिखर पर, बायस गरुड़ न होय ॥ ख ॥
आप वहैं नाहीं करैं, ताको है यह हेत।
आप जाय नहिं सासुरै, औरन को सिख देत ॥ ग ॥
इन लच्छन ते जानिये, उर अग्यान निवास।
ऊँघै कथा पुरान सुनि, बिकथा सुनै हुलास ॥ घ ॥

: बृंद-सतसई :

७—जटित जवाहिर तन झलक, मिलि मसाल के जाल।
नैकु नहीं जानी परत, यह मसाल यह बाल ॥ क ॥
होरी मिस भोरी तिया, लिय लगाइ सब गात।
धुप करिए थोरी न यह, बरजोरी की बात ॥ ख ॥
सिसुता में जोबन झलक, जगमगात प्रति अंग।
ईंगुर अरुनाई लसै, ज्यौं मिलि केसर रंग ॥ ग ॥
ससकत मुख सीबी करत, वहै छबीली बाल।
फिर फिर चित्र भुजङ्ग कौ, दृगन दिखावन लाल ॥ घ ॥

: विक्रम सतसई :

नामानुक्रमणिका

ग्रन्थानुक्रमणिका

सहायक-ग्रन्थ-सूची

ग्रन्थ	ग्रन्थकार
अमरुक सतक	—अमरुक कवि
आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास	—डा० श्रीकृष्ण लाल
आर्या सप्तशती	—गोवर्द्धनाचार्य
कवित्त-रत्नाकर	—सेनापति
कवि-प्रिया	—केशव
कविवर बिहारी	—जगन्नाथ दास 'रत्नाकर'
काम-सूत्र हिन्दी अनुवाद	—वात्स्यायन
गाथा-सप्तशती	—स० हाल
गीत गोविंद	—जयदेव
चिंता-मणि	—पं० रामचन्द्र शुक्ल
जहाँगीर का आत्म-चरित	—सं० ब्रजरत्न दास
डिंगल में वीररस	—सं०मोतीलाल मेनारिया
तुलसी सतसई	—तुलसीदास
नायिकाभेद और शृङ्गार-विवेचन	—प्रभुदयाल मीतल
नैषध चरित्र	—श्रीहर्ष
पद्माकर पंचामृत	—पद्माकर
प्राचीन भारत का कला विलास	—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
वृन्द सतसई	—कवि वृन्द
बिहारी	—पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
बिहारी की सतसई	—पद्मसिंह शर्मा
बिहारी की वाग्विभूति	—पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
बिहारी सतसई	—बिहारी
भवानी-विलास	—देव
भ्रमर-गीत-सार	—सूर दास (सं० रा० च० शु०)
भारतीय-साहित्य-शास्त्र	—बलदेव उपाध्याय
भारत की चित्र-कला	—राय कृष्णदास
मतिराम-सतसई	—मतिराम
मतिराम-ग्रन्थावली	—सं० कृष्ण बिहारी मिश्र
मध्यकालीन धर्म साधना	—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
मध्यकालीन भारत	—अवध बिहारी पाण्डेय

ग्रन्थ	ग्रन्थकार
रसज्ञरंजन	—महावीर प्रसाद द्विवेदी
रहिमन विलास	—अब्दुर्रहीम खान खाना
रसराज	—मतिराम
रसिक-प्रिया	—केशव
रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना	—डा० बच्चन सिंह
रीतिकालीन कविता एवं रसविवेचन	—डा० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी
रीतिकाव्य की भूमिका	—डा० नगेन्द्र
रोमांटिक साहित्य-शास्त्र	—देवराज उपाध्याय
'ल्योर्स आफ इण्डिया'	—एस० के० बनर्जी
विद्यापति-पदावली	—विद्यापति
विद्यापति	—डा० शिवप्रसाद सिंह
विनयपत्रिका	—तुलसीदास
वीर-सतसई	—सूर्य मल्ल
शिल्प-कथा	—नन्दलाल वसु
श्री राधा का क्रम विकास	—डा० शशिभूषण दास गुप्त
सस्कृत साहित्य का इतिहास	—बलदेव उपाध्याय
संस्कृति के चार अध्याय	—दिनकर
सतसई-सप्तक	—श्यामसुन्दर दास
साहित्य का मर्म	—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
साहित्य-दर्पण	—पंडित राज जगन्नाथ
सिद्ध हेमचन्द	—सं० हेमचन्द
सूर और उनका साहित्य	—डा० हरिवंश लाल शर्मा
सूरसागर	—सूरदास
हमारा ग्राम साहित्य	—रामनरेश त्रिपाठी
हिन्दी-रीति-साहित्य	—डा० भगीरथ मिश्र
हिन्दी साहित्य का इतिहास	—पं० रामचन्द्र शुक्ल
हिन्दी मुक्तक काव्य का विकास	—जितेन्द्रनाथ पाठक
हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	—डा० राम कुमार वर्मा
हिन्दी-साहित्य	—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
हिन्दी साहित्य की भूमिका	—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी